सभी धर्म प्रभु के चरण

[पूज्य विनोबाजी के सर्वधर्म समभाव विषयक धर्म-विचारों का संकलन]

लेखक

विनोबा

मराठी में संकलन-सम्पादन

पराग चोलकर

हिन्दी रूपान्तर तथा संकलन-सम्पादन

जमनालाल जैन

सर्व सेवा संघ-प्रकाशन

राजघाट, वाराणसी-२२१००१

E-mail:sarvodayavns@yahoo.co.in

प्रकाशकीय

यों तो पूज्य विनोबाजी का सम्पूर्ण साहित्य २० खण्डों में प्रकाशित हुआ है और उनके धर्म, अध्यात्म, विज्ञान, समाज आदि के क्रान्तिकारी, समन्वयपरक विचार विस्तार पूर्वक प्राप्त हो जाते हैं।

किन्तु सामान्य जनों के लिए इस समग्र वाङ्मय का अध्ययन आदि सम्भव नहीं, अवकाश भी नहीं। अतः श्री पराग चोलकर ने यह पुस्तक 'सभी धर्म प्रभु के चरण' रूप में विनोबाजी के धर्म-अध्यात्म विषयक तथा प्रायः सभी धर्मों की विशेषताओं के विषय में संक्षेप में विचारों का संकलन किया है। श्री चोलकर ने इसके लिए पूरे विनोबा-वाङ्मय का आलोडन-मंथन किया है। आशा है धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और वैश्विक दृष्टि से प्रत्येक मनुष्य के लिए यह पुस्तक प्रकाश-पथ पर चलने में सहायक होगी।

इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद और संकलन-सम्पादन कार्य श्री जमनालाल जैन ने किया है। उन्होंने अनुवाद-शैली की अपेक्षा विनोबाजी के शब्दों में ही उनके विचारों को विनोबा-साहित्य के खण्डों से तलाश करके रखने का प्रयास किया है। इससे पाठकों के ध्यान में आयेगा कि विनोबाजी किस शब्द का, किस अर्थ और सन्दर्भ में प्रयोग करते हैं। उनके शब्द प्रयोगों का चिन्तन भी अध्ययन का एक अंग होता है।

आशा है, इस पुस्तक का भी समुचित स्वागत होगा।

- अविनाश चन्द्र

अनुक्रमणिका

१. हिन्दू-धर्म

२. इसलाम-धर्म

३. ईसाई-धर्म

४. बौद्ध-धर्म

५. जैन-धर्म

६. सिक्ख-धर्म

७. पारसी-धर्म

८. 'सेक्युलर राज्य' का अर्थ

९. सौहार्द तथा समन्वय की दिशा में

१०. धर्म का सही स्वरूप

सम्पादकीय

विनोबाजी की 'क्रान्तदर्शन' पुस्तक के अन्त में दिये गये प्रासंगिक में 'सारे धर्म प्रभु के चरण' शीर्षक के नीचे एक वाक्य है, 'धर्म का रहस्य जानने के लिए न कुरान देखना जरूरी है, न पुराण देखना जरूरी है। 'सभी धर्म प्रभु के चरण' इतनी बात समझ लेना ही पर्याप्त है।'

यह सत्य ही है और साथ ही साथ यह भी सही है कि जो कुरान देखेगा और पुराण भी देखेगा – दूसरे शब्दों में कहा जाय तो विभिन्न धर्मों का अभ्यास करनेवाला जानेगा कि धर्म का रहस्य यही है – 'सभी धर्म प्रभु के चरण !'

हरि अर्थात् परमात्मतत्त्व। इस परमात्मतत्त्व के भिन्न-भिन्न धर्मों ने अलग-अलग नाम दिये हैं, प्रत्येक धर्म ने भी अनेक नाम दिये हैं। उनमें से चुने हुए नामों की विनोबाजी द्वारा रचित तीन छन्दों की 'नाममाला' सुप्रसिद्ध है। इस परमात्मतत्त्व का 'प्रभु' नाम, उसीमें गुंफित सबके लिए स्वीकार्य तथा ग्राह्य माना जायेगा। इसी कारण इस पुस्तक का शीर्षक 'सभी धर्म प्रभु के चरण' रखा गया है।

साम्प्रदायिकता का प्रश्न आज आग की तरह उपस्थित हो गया है। यों तो इस प्रश्न ने भारतीय समाज का दीर्घकाल तक पीछा किया है। आज वह विश्वभर में अधिक व्यापक और अधिक क्रूर बन गया है। इस सन्दर्भ में विभिन्न धर्मवालों को एक-दूसरे के धर्म-सन्देश का तथा उनकी विशिष्टता का ज्ञान होना चाहिए। साम्प्रदायिक विष का शमन अन्ततः सत्य और सद्विचार ही कर सकते हैं। उसे समाज में सर्वत्र प्रभावशाली रूप में प्रसारित करना होगा। इस दृष्टि से यह पुस्तक सहायक सिद्ध होगी।

विनोबाजी ने सभी धर्मों का गहन अध्ययन करके उनके मर्म को आत्मसात् किया है। इस पुस्तक में उनके इस विषयक विचारों का संकलन/संचयन किया गया है। आज

भारतीय समाज की सौहार्द तथा समन्वय की दिशा में प्रगति आवश्यक है, तो क्या करना होगा? धर्म का यथार्थ, वास्तविक स्वरूप क्या है? इससे सम्बन्धित विचार भी इसमें उल्लेखित हैं तथा सब धर्मों के योग्य शब्द का उपयोग करना हो तो पंथों की सीमा लांघकर अध्यात्म के आकाश में छलांग लगानी होगी। यह संकेत-ज्ञान भी यहाँ स्पष्ट है।

यह पुस्तक अधिक-से-अधिक लोगों तक पहुँचनी चाहिए, यों यह पहुँचेगी भी, यही आशा और अपेक्षा है।

– **सम्पादक**

१. हिन्दू-धर्म

हिन्दू-धर्म किसी विशेष समय, विशिष्ट व्यक्ति द्वारा, किसी ग्रंथ के आधार पर स्थापित हुआ है, यह नहीं कह सकते। हिन्दू-धर्म बहुत पुराना, प्राचीन धर्म है। बाकी दूसरे धर्मों का इतिहास तो दो-ढाई हजार वर्षों के अन्दर का है। इसलाम तेरह सौ वर्ष का तथा ईसाई धर्म दो हजार वर्ष का। अन्य धर्म भी इसी तरह दो-ढाई हजार वर्षों के हैं। परन्तु हिन्दू-धर्म कम-से-कम बीस हजार वर्ष पुराना है। बीस हजार वर्षों की परम्परा में अनेक अनुभव आये, अनेक परिवर्तन हुए।

अद्वैत आदि जो सिद्धान्त हैं, वे शंकराचार्य, रामानुजाचार्य के बाद आये। यानी बारह-तेरह सौ साल पहले की बात समझ लीजिये। और हिन्दू-धर्म के बीस हजार साल के इतिहास के सामने बारह-तेरह सौ साल की बात छोटी हो जाती है। शंकर-रामानुज ने हिन्दू-धर्म पर होनेवाले हमलों को रोका या हटाया। हमला (आक्रमण) यह था कि हिन्दू-धर्म के अनेक ग्रंथ थे, उनमें मेल-मिलाप नहीं था। उपनिषद् और दूसरे ग्रंथों में मेल नहीं था और उपनिषदों में भी परस्पर भेद या अन्तर था। यह सारा इकट्ठा (एकत्र) करके उन्होंने समन्वय किया।

बीच के काल में सन्तों ने हिन्दू-धर्म को जगाने का जोरदार प्रयत्न किया। हिन्दू-धर्म का कम-से-कम माद्दा (भाग) अपने हाथ में लेकर सन्तों ने भक्तिभाव प्रसारित किया। सन्तों ने यह जो काम किया, वह बहुत बड़ा काम माना जायेगा। जहाँ सारा डूब रहा था, वहाँ उन्होंने थोड़ा बचाया।

आधुनिक जमाने में विवेकानन्द ने अद्वैत को सेवा के साथ जोड़ा और गांधीजी ने उसको आगे चलकर उत्पादक परिश्रम के साथ जोड़ दिया।

व्याख्या और निरुक्ति

हिन्दू-धर्म की मेरी व्याख्या इस प्रकार है :

यो वर्णाश्रम-निष्ठावान् गोभक्तः श्रुतिमातृकः,
मूर्तिं च नावजानाति, सर्वधर्म-समादरः,
उत्प्रेक्षते पुनर्जन्म तस्मान् मोक्षणमीहते,
भूतानुकूल्यं भजते स वै 'हिंदु' रिति स्मृतः।
हिंसया दूषते चित्तं तेन 'हिं-दु' रितीरितः।

यह व्याख्या पढ़कर एक सनातनी भाई ने पूछा कि 'आपने ये श्लोक कहाँ से उधृत किये हैं और आप तो छुआछूत का भेद मिटानेवाले और धर्मातीत सरकार को माननेवाले हैं। आपके उन विचारों का इस व्याख्या में प्रकट हुई श्रद्धा के साथ कैसे मेल बैठता है?' यह उनका आक्षेप है।

इसके विपरीत एक भाई ने पूछा था कि 'यह आपकी वर्णाश्रम-निष्ठा सर्वोदय के साथ कैसे मेल खाती है?'

इन दोनों के उत्तर में मैं इस व्याख्या का थोड़े में ही विवरण कर देता हूँ, जिससे मुझे आशा है कि मेरा काम हो जायेगा।

(१) यो वर्णाश्रम-निष्ठावान्: जो वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म में निष्ठा रखता है। वर्ण-धर्म यानी जन्म, शिक्षण और परिस्थिति के कारण जिसे जो सहज कर्तव्य प्राप्त होता है, वह निष्ठापूर्वक करना और इस तरह अपना-अपना काम करनेवाले हरएक की सामाजिक प्रतिष्ठा और पारिश्रमिक समान होंगे, इस विचार को मान्य करना।

'आश्रम-धर्म' यानी जीवन में संयम को प्रधान पद देकर संयम की मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ाते जाना और उम्र के मुताबिक गुरु-सेवा, कुटुम्ब-सेवा, समाज-सेवा और आत्मचिन्तन को लक्ष्य करके वृत्ति-संशोधन और जीवन-परिवर्तन करना।

(२) गोभक्तः: जो गो-सेवा को मानता है। 'गोसेवा' यानी मानवता के विकास के लिए गाय को मानव-कुटुम्ब में स्थान देकर उससे उचित सेवा लेते हुए गाय की आखिर तक उत्तम हिफाजत करना और वैज्ञानिक बुद्धि से गाय को स्वावलम्बी बनाना, जिससे वह किसी को भाररूप महसूस न हो।

(३) श्रुतिमातृकः: जो श्रुति को मातृवत् आदरणीय समझता है। श्रुति अर्थात् वेदोपनिषदादि मूल ग्रंथों में तथा मनु-व्यासादि शिष्टों, कपिल-पतंजलि आदि दर्शनकारों, बुद्ध-महावीर आदि नीति-विचारकों, शंकर-रामानुजादि सम्प्रदाय-प्रवर्तकों, ज्ञानदेव-तुलसीदास आदि सन्तों के वचनों में **हृदयेन अभ्यनुज्ञातः** अर्थात् मानव को हृदयंगम होनेवाला सर्वाऽविरोधी, सर्व-समन्वयकारी जो सत्यांश भरा हुआ है।

'मातृवत् आदरणीय समझना' यानी माता के वचनों का हम जिस तरह आदरपूर्वक अनुशीलन करते हैं, उसी तरह उपरिनिर्दिष्ट श्रुति का अनुशीलन करना और यथासम्भव उसके विचारों का अनुसरण तथा परिवर्धन करने की कोशिश करना है।

(४) मूर्तिं च नाव जानाति: जो मूर्ति की अवज्ञा नहीं करता। मूर्ति यानी (अ) सामान्यतः चराचर, समग्र सृष्टि या उसका कोई भी अंश और (आ) विशेषतः परमेश्वर की उपासना के लिए उन-उन उपासकों द्वारा स्वीकृत अनश्लील प्रतिमाएँ, चित्र, संकेत या मंत्र और शब्द।

'अवज्ञा न करना' अर्थात् सब व्यक्त सृष्टि अव्यक्त परमेश्वर का ही आविर्भाव है, ऐसा समझकर किसी को हीन-बुद्धि से न देखना और दूसरों की उपासनाओं की कद्र करना; चाहे वे उपासनाएँ आवश्यक या अनुकूल न हों।

(५) सर्वधर्म-समादरः: जो सब धर्मों का सम्यक् और समान आदर करता है। धर्म यानी (अ) सामान्यतः उस-उस मनुष्य की उस-उस प्रकृति के विकास और संशोधन के लिए जरूरी साधनमार्ग और (आ) विशेषतः भिन्न-भिन्न महात्माओं, पैगम्बरों और प्रणालियों द्वारा प्रचारित और दुनिया के भिन्न-भिन्न मानव-समूहों द्वारा स्वीकृत वैदिक, भागवत, जैन, बौद्ध, पारसी, यहूदी, ईसाई और इसलाम आदि विश्व में प्रचलित धर्म।

'सम्यक् आदर' यानी सत्यासत्य विवेक रखते हुए 'पूज्यभाव।'

'समान आदर' यानी किसी को ऊँच या नीच नहीं समझना, बल्कि भिन्न-भिन्न भूमिकाओं और दृष्टिकोणों पर अवस्थित समझना।

(६) उत्प्रेक्षते पुनर्जन्म: जो पुनर्जन्म को मानता है। पुनर्जन्म अर्थात् इस देह के अन्त के साथ जीव के जीवन का अन्त नहीं होता है, ऐसी मूलभूत श्रद्धा। जब तक सर्वविकार-रहित होकर जीव परिपूर्ण शुद्ध नहीं होता, तब तक उसको अपना विकास-प्रयत्न जारी रखना ही है, चाहे स्थूल देह लेकर, चाहे सूक्ष्म देह में।

(७) तस्मान् मोक्षणमीहते: जो उस पुनर्जन्म से मुक्त होने की इच्छा रखता है। 'मुक्त होने की इच्छा' यानी जिसके कारण व्यापक समष्टि से अलग एक संकुचित देह में जीव को परिवेष्टित होकर रहना पड़ता है, अर्थात् जिसके कारण मैं और तू या अपना और पराया, इस तरह का भेद निर्माण होता है, उस अविद्या-अहंकारादि मोहजाल से छूटने की अभिलाषा।

(८) भूतानुकूल्यं भजते: जो सर्वभूतों के अनुकूल बरतता है। भूत अर्थात् (अ) सामान्यतः सर्व प्राणीमात्र। (आ) विशेषतः मानव-समाज।

'अनुकूल बरतना' यानी जैसे अपने को सुख-दुःख हैं, वैसे ही दूसरों को भी हैं; इसका खयाल रखकर व्यवहार करना। हरएक को जीवन का उतना ही अधिकार है, जितना अपने

को है, इस बात को मानना। अपने जीवन के लिए दूसरे के जीवन पर आक्रमण न हो, इसका खयाल रखना।

हिन्दू-धर्म के आदिकाल से अभी तक के समूचे विचार-प्रवाह को देखकर और अनेक विद्वानों तथा श्रेष्ठ पुरुषों ने हिन्दूधर्म की जो व्याख्याएँ समय-समय पर प्रकट की हैं, उनको पचाकर यह अष्टविध लक्षण बनाया गया है। आखिर की एक पंक्ति में 'हिन्दू' शब्द की व्यापक 'निरुक्ति' बतायी है। उसका विवरण लिखने के पहले 'निरुक्ति' शब्द का भी अर्थ समझ लेना उचित होगा।

निरुक्ति और व्युत्पत्ति में अन्तर है। व्युत्पत्ति व्याकरण का विषय है, निरुक्ति आध्यात्मिक होती है। व्युत्पत्ति सामान्यतः धातुमूलक होती है। निरुक्ति अक्षर पर आधार रखती है, अर्थात् वह काल्पनिक होती है। चिन्तन की सुलभता के लिए अक्षरों पर बिठायी हुई वह एक उपकारक कल्पना होती है।

हिंसया दूषते चित्तं, तेन हिंदुरितीरितः - हिंसा से जिसका चित्त दुखित होता है, उसे हिंदू कहते हैं।

हिं = हिंसया, हिंसा से।

दू = दूषते (चित्त) दुखित होता है।

यह निरुक्ति 'हिन्दू' शब्द को विश्वव्यापक अर्थ देती है।

उदार धर्म

हिन्दू-धर्म की रचना उदार तत्त्व पर की गयी है। मैं (यानी कोई भी एक जीव), तू (यानी उससे अन्य 'सर्वजगत्') और वह (यानी जगत्कर्ता 'ईश्वर'), इन तीन (मैं, तू, वह अर्थात् जीव-जगत्- (ईश्वर) पुरुषों से विश्व का व्याकरण बना है। ये तीनों पुरुष

अन्योन्यभाव से बँधे हुए हैं। अर्थात् मुझमें सर्वभूत और परमेश्वर हैं, सर्वभूतों में परमेश्वर और मैं है और परमेश्वर में मैं और सर्वभूत हैं - इस प्रकार तिहरी गाँठ बैठी है। हिन्दू-धर्म की रचना ऋषियों ने अन्यान्यभाव के इस उदार तत्त्व पर की है, इसलिए हिन्दू-धर्म की व्यावर्तक व्याख्या करने जायेंगे, तो वह हिन्दू-धर्म के जड़मूल पर ही प्रहार होगा।

हिन्दू-धर्म की इमारत ग्रंथ-प्रामाण्य के आधार पर खड़ी नहीं हुई है। अनेक ग्रंथ हिन्दू-धर्म से जुड़ गये हैं; लेकिन हिन्दू-धर्म किसी ग्रंथ में बद्ध नहीं है। हिन्दू-धर्म में ग्रंथ - प्रामाण्य को कभी स्थान ही नहीं मिला। हृदय-शुद्ध होने के लिए हम रामायण पढ़ें या कोई दूसरा ग्रंथ पढ़ें। ग्रंथ हमारे लिए हैं, हम उन ग्रंथों के लिए नहीं हैं।

भगवद्गीता पढ़नेवाला, भागवत नहीं पढ़ता। कोई कृष्ण का नाम लेता है, कोई विष्णु का। फिर भी वह तर जायेगा। परन्तु अमुक एक ग्रंथ ही पढ़ा जाय और अमुक एक ही व्यक्ति की शरण में जायें, ऐसा हिन्दू-धर्म नहीं है। जैसे बाइबिल नहीं पढ़ी तो ईसाई नहीं हो सकते। बाइबिल गयी तो ईसाई भी गया। कुरान गया कि मुसलमान गया। ऐसा हिन्दू-धर्म में नहीं है। मैं उपनिषद् पढ़ता हूँ, पर गीता नहीं पढ़ता, तो ऐसा चलेगा क्या? चलेगा। मैं भागवत पढ़ता हूँ, गीता, उपनिषद् नहीं पढ़ता, तो चलेगा? चलेगा। मैं वेद पढ़ता हूँ, चलेगा क्या? चलेगा। मैं कुछ भी नहीं पढ़ता, केवल तुकाराम की गाथा पढ़ता हूँ, चलेगा क्या? चलेगा। ऐसा है यह धर्म। इसमें ऐसा कुछ नहीं कहा है कि संस्कृत गीता ही पढ़नी चाहिए, मनाचे श्लोक पढ़े तो भी चलेगा। इससे मेरी बुद्धि को सात्त्विकता का लाभ मिलता है। इतने भर से मैं मोक्ष का अधिकारी हो सकता हूँ। हिन्दू-धर्म में किसी भी ग्रंथ का आग्रह नहीं है।

जिस ग्रंथ का अर्थ करना है, वह ग्रंथ वेद ही क्यों न हो, सत्यासत्य का विचार किये बिना अक्षरशः मान्य किया जाय, ऐसे ग्रंथ-प्रामाण्य का अनुपयोगी तत्त्व हिन्दू-धर्म में नहीं है।

जिस प्रकार हिन्दू-धर्म की गठरी विशिष्ट ग्रंथ के रूमाल में बंधी हुई नहीं है, वैसे ही विशिष्ट सन्त की खूँटी पर टँगी हुई नहीं है। हिन्दू-धर्म का नाम किसी भी सत्पुरुष के नाम से जुड़ा हुआ नहीं है। इस हिन्दू-धर्म रूपी गाँव की रचना ही ऐसी है कि यहाँ कोई नायक नहीं बन सकता। सेवक बन सकता है। **धर्मस्य प्रभुरच्युतः** - प्रमादरहित परमेश्वर ही धर्म का स्वामी है, अन्य सभी जीव प्रमादशील होने के कारण धर्म के सेवक हैं। धर्म पर उनकी सत्ता नहीं चल सकती। यह हिन्दू-धर्म का निर्णय है। हिन्दू-धर्म की दृष्टि से सन्त ही धर्म के लिए जवाबदेह हैं। धर्म सन्त के लिए जवाबदेह नहीं है। ग्रंथ-प्रामाण्य और ग्रंथ-पूजा में जो फर्क किया गया है और जिस कारण से किया गया है, वैसा ही व्यक्ति-पूजा और व्यक्ति-प्रामाण्य में भी किया गया है।

ईसाई-धर्म ईसा के नाम पर जुड़ा है। इसलाम-धर्म मोहम्मद के नाम पर जुड़ा है। इसी प्रकार भागवत-धर्म कृष्ण के नाम पर जोड़ा हुआ है। किन्तु हिन्दू-धर्म राम-कृष्ण के नाम पर जुड़ा हुआ नहीं है और शिव के नाम पर भी जुड़ा हुआ नहीं है। वह सगुण ईश्वर से भी जुड़ा हुआ नहीं है अथवा निर्गुण ईश्वर से भी नहीं। और मैं तो कहना चाहता हूँ कि वह ईश्वर से भी बिलकुल जुड़ा हुआ नहीं है।

जो गठरी विशिष्ट ग्रंथ के रूमाल में बँधी हुई नहीं है या विशिष्ट सन्त की खूँटी पर टँगी हुई नहीं है, उसमें विशिष्ट पंथ के कागजात तो हो ही नहीं सकते। ग्रंथ, पंथ और सन्त के साम्प्रदायिक गुणाकार में से हिन्दू-धर्म का घनफल मापा नहीं जा सकता। क्योंकि हिन्दू-धर्म साम्प्रदायिक धर्म ही नहीं है। हिन्दू-धर्म की मूल कल्पना वैश्वानर तत्त्व पर आधारित है, विकसित है। अतः वह स्वभावतः ही मानव-धर्म बना है।

सहिष्णुता का तत्त्व सभी धर्मों में है। परन्तु हिन्दू-धर्म की खूबी यह है कि जो मुझे किसी भी धर्म-ग्रंथ में दिखाई नहीं दी। यहाँ ईश्वर माननेवाला और न माननेवाला भी धार्मिक

हो सकता है। ईश्वर को मानना, न मानना मनुष्य की कल्पनाशक्ति पर निर्भर है। परन्तु जो धर्म-मार्ग पर चलता है और सत्यशोधन के लिए अपना हृदय हमेशा खुला रखता है, उसे उत्तरोत्तर ज्ञान प्राप्त होता रहेगा और वह मुक्ति की दिशा में आगे बढ़ता रहेगा।

हिन्दू-धर्म का सतत विकास होता रहा है। जिस धर्म में छह-छह परस्पर विरोधी दर्शनों का संग्रह है, जिसमें द्वैत-अद्वैत का समावेश है, जिसमें किसी भी एक प्रकार के आचार का आग्रह नहीं है, ऐसे धर्म के समान उदारधर्म और कौन-सा हो सकता है? इतना निराग्रही, सर्वसंग्रही और व्यापक धर्म प्राप्त होने पर भी हम उसे संकुचित करते हैं तो उसमें हम अपने देश की हानि ही करते हैं।

व्यापकता : हिन्दू-धर्म की आत्मा

मनुष्य को मनुष्य के सत्य से ही देखना चाहिए। ऐसा नहीं करेंगे तो हम हिन्दू-धर्म की आत्मा ही खो बैठेंगे। हिन्दू-धर्म कहता है, सबमें एक आत्मा का वास है। हिन्दू-धर्म इतना विशाल है कि उसमें किसी भी प्रकार की संकुचितता नहीं है। यदि हम यह बात ध्यान में नहीं रखेंगे तो हिन्दू-धर्म का आधार ही नहीं रहेगा। हमारे शास्त्र कहते हैं कि **'एकं सत् विप्राः वहुधा वदन्ति।'** सत्य एक है, परन्तु उपासना के लिए वह अलग-अलग हो सकता है। उन्होंने **'मूर्खाः बहुधा वदन्ति'** नहीं कहा।

कुछ लोग कहते हैं कि "मुसलमानों का जैसे एक ही 'कुरान' ग्रंथ है, वैसे हमारे पास धर्म का एकमेव कोई ग्रंथ नहीं। इसलिए हमारी शक्ति बिखर जाती है। अतः गीता को ही प्रमाण समझें।' गीता पर मेरी श्रद्धा है, फिर भी हिन्दू-धर्म के लिए कोई भी एक ही ग्रंथ प्रमाण न रहे, ऐसा मुझे लगता है। हिन्दू-धर्म समुद्र है। समुद्र में सारी नदियाँ आकर मिल जाती हैं। अतः हमें समन्वय साधने की कला आनी चाहिए। उपनिषदों का समन्वय गीता ने किया और गीता का समन्वय भागवत ने किया। अब हमें पुराण, कुरान, बाइबिल तथा गीता

का समन्वय करना होगा। जैसे सागर समस्त नदियों को अपने में समा लेता है, वही वृत्ति हमारी रहनी चाहिए। विवेकानन्द ने कहा है कि हमारा वेदान्त-धर्म है। हम सभी उपासनाओं को समभाव से देखते हैं। यह हमारी सबसे महान् शक्ति है। जैसे सारे कौवे काले होते हैं अथवा सब सिपाहियों की वर्दी समान होती है, वैसे ही हिन्दू का एक ग्रंथ और एक मन्त्र चाहते हों तो उससे एकता तो बढ़नेवाली है नहीं, उलटे व्यापकता गँवा बैठेंगे।

रामकृष्ण परमहंस ने इसलाम और बाइबिल की उपासना भी की थी। यह बिलकुल ठीक था। उन्होंने इस प्रकार नाना उपासनाएँ करके अपने जीवन में उनका समन्वय साधा था। इस उदाहरण से हमारी शक्ति बढ़ती है। एक देव, एक ग्रंथ और एक संघ की इच्छा से हमारी शक्ति घटेगी। शंकराचार्य स्वयं मूर्तिपूजा में नहीं मानते थे, फिर भी उन्होंने पंचायतन जनता को दिया। उन दिनों जितने पंथ अस्तित्व में थे, उन सबसे उन्होंने कहा कि हमारी ओर आइये, हम समुद्र हैं। आज भी हमें ऐसा ही समन्वय करना चाहिए।

भेद-सहन-शक्ति

भगवान् बुद्ध ने जो कार्य किया, वही शंकराचार्य ने आगे चलाया। उन्होंने कर्मकाण्ड पर प्रहार किया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि इस जीवन में, इसी शरीर में हृदय-शुद्धि और आत्मानुभूति सम्भव है। इसीमें धर्म का सार है।

इस कारण लोग कहने लगे कि शंकराचार्य प्रच्छन्न बौद्ध हैं। अर्थात् छिपे हुए बुद्ध ही हैं। इन दोनों में किंचित् भेद था और वह ब्रह्मविद्या विषयक था। भगवान् बुद्ध ऐसी चर्चा में पड़ते नहीं थे। उनके शिष्य जब उनसे इस विषय में पूछते, तब उनका उत्तर होता कि 'दीनों की सेवा करो, उसीमें शान्ति है, यही सच्चा कार्य है। आत्मा के विवाद में व्यर्थ ही मत पड़ो।' किन्तु उनके प्रयाण के पश्चात् उनके शिष्य इस विवाद में पड़ गये। शंकराचार्य ने उनकी कमियाँ दिखायीं। बस, इतना ही बुद्ध और शंकराचार्य में विरोध है।

बौद्ध-धर्म की दया और करुणा और हिन्दू-धर्म की आत्मविद्या दोनों मिलकर आज का हिन्दू-धर्म बना है।

बौद्ध-धर्म को हिन्दू-धर्म द्वारा हिन्दुस्तान से खदेड़ देने की जो भाषा कभी-कभी सुनाई देती है, वह अज्ञानमूलक है। वस्तुस्थिति यह है कि बुद्धदेव में ईश्वरी-सत्य का अवतार हो गया है, यह जानने पर हिन्दू-धर्म द्वारा बौद्धों का विशिष्ट तत्त्वज्ञान अपने में समा लेने के कारण बौद्ध-धर्म का हिन्दुस्तान का कार्य पूरा हो गया और जहाँ उसकी आवश्यकता थी, उन देशों में उसने अपना प्रचार-विहार किया। 'बौद्धधर्म' भारत में रहा नहीं, 'बौद्ध-दर्शन' रहा। इस प्रकार हिन्दू-धर्म की व्यापक कक्षा (क्षेत्र) में सभी धर्मों का, भिन्न-भिन्न दर्शन के रूप में स्वीकार करने की सुविधा हुई और है।

हिन्दू-धर्म में तात्त्विक विचार-भेद सहन करने की जैसी अद्भुत शक्ति है, वैसी ही शक्ति आचार-भेद सहन करने की भी है। स्मृतियों के बाजार में असंख्य आचार के नमूने प्रस्तुत हैं, यह ठीक है; पर बाजार की सारी चीजें प्रत्येक को खरीदनी ही चाहिए, ऐसा कोई कानून नहीं है। इतना ही क्यों, इस बाजार में कोई न जाय तो भी हिन्दू-धर्म के लिए चलने जैसी बात है। संस्कारादि के झंझट में न पड़ते हुए केवल मनुष्य मात्र पर लागू होनेवाला (मानवता का) धर्म यदि मनुष्य आस्थापूर्वक पालता है, तो उतने भर से ही उसे ब्रह्मविद्या का अनुग्रह हो सकता है। यह हिन्दू-धर्म का अन्तिम कहना या आदेश है।

अस्पृश्यता, जाति-भेद मिटे

सन्तों ने कहा है – जग विष्णुमय है, यही वैष्णवों का धर्म है। भेदाभेद-भ्रम अमंगल हैं। इन अमंगल, भ्रामक भेदों को नष्ट करना ही होगा। अस्पृश्यता मन से हटा देनी होगी। हमें यह साबित करना चाहिए कि हमारे रोज के जीवन में कहीं भी जन्मजात विषमता को स्थान

नहीं है। मेरी तो **भविष्यवाणी है कि जिस दिन भारत से अस्पृश्यता दूर हो जायेगी, उसी दिन हिन्दू-मुसलमानों के झगड़े भी अपने आप समाप्त हो जायेंगे**।

हिन्दू-धर्म को, उसके अंगों को चिपके हुए कड़े गुड़ से दूर करना चाहिए। ध्यान में रखो कि हिन्दू-धर्म में जाति-भेद नहीं है। हिन्दू-धर्म में वर्ण-भेद है और वर्णों के तीन तत्त्व हैं – (१) वणों में उच्च-नीचपन नहीं है, सबको समानरूप में मोक्ष का अधिकार है। आप कोई भी कर्म करते हों, वह यदि निष्काम-बुद्धि से और परमेश्वर की भक्ति से करते हैं तो आपको उसी कर्म से मोक्ष प्राप्त होगा। ब्राह्मण को वेदाभ्यास से जो मोक्ष मिलता है, वही मोक्ष अन्य वर्णों को अपना-अपना काम करने से मिलेगा। अर्थात् सामाजिक और आध्यात्मिक प्रतिष्ठा सबकी समान है। (२) किसी भी वर्ण को अन्य किसी भी वर्ण की अपेक्षा अधिक पैसा कमाने की बात वर्णधर्म में नहीं है। यह बात पूँजीवाद और जातिभेद में है। वर्णधर्मानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों में से केवल एक वैश्य वर्ण को ही परिग्रह का अधिकार है और उसमें भी चार आश्रमों में से केवल गृहस्थाश्रम को ही यह अधिकार है। यानी सोलह अवस्थाओं में से पन्द्रह अवस्थाओं के लिए अपरिग्रह और केवल एक अवस्था के लिए परिग्रह का अधिकार था। उसमें भी, यद्यपि गृहस्थ को परिग्रह का अधिकार था, तथापि वह ट्रस्टी के नाते, सबकी ओर से, सबके लिए धन रखता है – यह कल्पना उसके पीछे है। परन्तु यह कल्पना भी यदि कुछ नुकसान करती है, ऐसा प्रतीत हो तो उसे त्यागने में हर्ज नहीं। परन्तु वर्ण-धर्म में सबको समान जीवन का तथा मोक्ष का अधिकार है। (३) वर्ण-धर्मानुसार किसी भी वर्ण के व्यक्ति को किसी अन्य वर्ण के व्यक्ति से विवाह करने में कोई आपत्ति (बाधा) नहीं है। विवाह में बाधा जिन कारणों से बाद में पैदा हुई, वे कारण उस समय हिन्दू-धर्म के लिए गौरवास्पद थे, परन्तु आज नहीं हैं। पहले जब हिन्दुओं में कुछ लोगों ने करुणापूर्वक मांसाहार का त्याग किया, तब मांसाहार-त्यागी ऐसा विचार करता

था कि मैं अपनी कन्या मांसाहारी परिवार में कैसे दूँ; वह मांसाहार न करनेवाले कुटुम्ब में जाये तो ठीक। आज मांसाहार-परित्याग आध्यात्मिक दृष्टि से समाज ने मान्य किया है।

जातिभेद हिन्दू-धर्म का एक कलंक है।

अब हमें जातिभेद को हिन्दू-धर्म से दूर करके उसे नष्ट कर देना चाहिए। इस प्रक्रिया से ही जातिभेद नष्ट होगा। अन्यथा जातिभेद हिन्दू-धर्म का एक अंग है, ऐसा मानकर उस पर प्रहार करेंगे तो वह मरनेवाला नहीं है, बल्कि और मजबूत हो जायेगा। 'इन्द्राय तक्षकाय स्वाहा' कहकर इन्द्र और तक्षक दोनों को मारना चाहेंगे, तो इन्द्रबल से तक्षक ही अमर होगा, तक्षक-बल से इन्द्र मरेगा नहीं। इसलिए इन्द्र और तक्षक दोनों को अलग करके फिर तक्षक को मारना चाहिए। हिन्दू-धर्म कुछ सनातन तत्त्वों के आधार पर खड़ा है। उसे ब्रह्म-विद्या का जो मजबूत आधार है, उसे कोई मिटा नहीं सकता, यह मैं स्पष्ट रूप से कहना चाहता हूँ। मैंने सब धर्मों का साहित्य अत्यन्त प्रेम और भक्ति से पढ़ा है और वह सब पढ़ने के बाद मैं कहता हूँ कि ब्रह्म-विद्या का जो आधार हिन्दू-धर्म का है, उस आधार पर यह धर्म हमेशा मजबूत रहेगा। तब पेड़ों पर लगी हुई गिलोयबेल को काटने के लिए यदि आप पेड़ ही काटने लगेंगे, तो पेड़ कटेगा नहीं और बेलें भी बनी रहेंगी। इसलिए बेलों को पेड़ से अलग करके उन्हें काटिये। हिन्दू-धर्म से जातिभेद को अलग करके जातिभेद पर प्रहार कीजिए, तब वह नष्ट होगा। हिन्दुस्तान में जातिभेद मरने की स्थिति में था। राजा राममोहन राय से महात्मा गांधी तक अनेक सत्पुरुषों द्वारा उस पर प्रहार करने के कारण वह जा ही रहा था, परन्तु आजकल के चुनावों के कारण मरणप्राय जातिभेद को नवजीवन मिल गया है। अतः वर्तमान चुनाव-पद्धति को सुधारना ही चाहिए। राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से ही नहीं, बल्कि जातिभेद नष्ट करने की दृष्टि से वह सुधारी जानी चाहिए। मुझे भी जातिभेद मिटाना है। उसके लिए मैं वेद, गीता, कुरान, बाइबिल, धम्मपदं आदि सबकी मदद लेता हूँ। गीता के विरुद्ध बाइबिल, वेद के विरुद्ध धम्मपदं, ऐसा पागलपन न करें। जो सद्भक्त

मुसलमान हैं, जो सद्भक्त ईसाई, बौद्ध हैं, उन सबकी मिलकर एक जमात हो। अतः सब मिलकर दुर्जनता पर आक्रमण करें, पाखण्ड, ढोंग, जातिभेद पर आक्रमण करें। जातिभेद के विरुद्ध मोर्चा खड़ा करना चाहिए।

•

२. इसलाम-धर्म

कुरान का अध्ययन

सन् १९३९ की बात है। मेरे रचनात्मक कामों के चिन्तन में मुझे एक दिन सूझा कि मैं हिन्दुस्तान में रहता हूँ और खुद को हिन्दुस्तानी कहता हूँ, तो जैसे हिन्दू-धर्म की किताबों का अध्ययन मैंने किया है, वैसे अपने पड़ोसी मुसलमान भाई जो एक हजार साल से यहाँ रहते हैं, उनके धर्म की किताब का भी अध्ययन करूँ। वैसे कुरान शरीफ का अंग्रेजी अनुवाद तो मैं देख चुका था। लेकिन उतने से दिल को तसल्ली नहीं होती थी। तब अरबी में ही पढ़ने का सोचा। मैं वर्धा के पास एक देहात में रहता था। वहाँ पर जो भी मदद मिल सकी, लेकर दो-तीन साल में मैंने कुरान को कई मरतबा पढ़ लिया। अरबी भाषा सीखकर पूरा-का-पूरा कुरान बाबा ने (मैंने) पढ़ा। सात बार कुरान पढ़ा। कम-से-कम बीस साल उसका अध्ययन किया। उसका कितना ही हिस्सा कण्ठस्थ हो गया। बाबा को कुरान के अध्ययन के लिए जितना श्रम वेद छोड़कर और किसी ग्रंथ के लिए नहीं करना पड़ा। उतने से मैं कुरान का 'हाफिज' या 'आलिम' (कुरानविद्) हुआ, यह नहीं कह सकता। परन्तु गहरे अध्ययन का प्रयत्न जरूर किया है। जितनी श्रद्धा से मैंने हिन्दू-धर्म के ग्रंथों का अध्ययन किया, उतनी ही श्रद्धा से कुरान का भी किया है।

सब धर्मों में एकता है, यह श्रद्धा तो पहले से ही थी, क्योंकि मानव-हृदय एक है और धर्म-निर्माता महान् हृदय के होते हैं। परन्तु इस अध्ययन से उस श्रद्धा की प्रत्यक्ष अनुभूति हुई। कुरान के अध्ययन से मुझे यह दिखाई दिया कि इसलाम भी अत्यन्त सहिष्णु धर्म है, जिस प्रकार सभी धर्म होने चाहिए। क्योंकि सत्य के प्रचार में जबरदस्ती चल ही नहीं सकती। यह बात कुरान ने स्वतः ही कही है।

कुरान में एक और बात मुझे मिली। जगत् में 'दीन' एक है, 'मजहब' अलग-अलग हैं। सत्य के मार्ग पर चलना 'दीन' है, अर्थात् धर्म है और इस सत्य का अनुसरण करके चलने का पंथ अर्थात् 'मजहब' है। ये कई हैं। आगे कहा है कि आप सब एक ही 'उस्मत', एक ही समाज हैं। चाल-चलन या रीति-रिवाज के कारण भेद हो गये हैं। उनका कोई महत्त्व नहीं है।

मैंने कुरान-शरीफ का अध्ययन सरसरी तौर पर नहीं किया है। बल्कि मैंने उसके मिस्टीक एक्सपीरियन्सेज (गूढ़ अनुभव) देखे हैं। अक्सर लोग नैतिक सिखावन, और कानून-किस्से वगैरह देखते हैं। लेकिन उसमें क्या देखना है? झूठ मत बोलो, रहम करो, यह कौन नहीं कहता? सब यही बात कहते हैं। इसलिए वही बात कुरान में मिली तो क्या मिला? अरबी सीखकर इतना वक्त बरबाद करके अगर सच बोलो, इतना ही हम सीखे, तो वाकई हमने वक्त जाया (बरबाद) किया। यह तो माँ ने हमें मराठी में ही सिखा दिया था। इसलिए कुरान के गूढ़ अनुभव देखने चाहिए।

मुसलमानों का प्रेम

गांधीजी के जाने के बाद मैंने अपने कुछ सहयोगियों के साथ निर्वासितों के पुनर्वास का काम किया। हरियाणा-राजस्थान में मेवा लोगों के पुनर्वास का काम किया। मातृभूमि का प्रेम क्या होता है, इसका अनुभव मुझे मेवातों में हुआ। मेव जमीन की सेवा करते हैं, इसलिए उन्हें वहाँ की मिट्टी के प्रति, पेड़ों के प्रति, पत्थरों के प्रति प्रेम है। मुसलमान होने के कारण वे नमाज पढ़ते हैं। अल्लाह सर्वत्र है, यह वे जानते थे, परन्तु अपनी जमीन पर नमाज पढ़ने तक उन्हें चैन नहीं पड़ती थी।

उन दिनों (१९४८) हिन्दू-मुसलमानों के बीच बहुत झगड़े चल रहे थे। अजमेर में मुसलमानों को बड़ा खतरा मालूम हो रहा था। तो मैं सात दिनों तक वहाँ रहा। मैं रोज वहाँ

के दरगाह शरीफ में जाता था। वह स्थान हिन्दुस्तान का मक्का माना जाता है। मुसलमानों ने मेरा वहाँ बहुत प्रेम से स्वागत किया। मैंने सबको (हिन्दू-मुसलमानों को) समझाया कि इस तरह झगड़ा करना ठीक नहीं। फलस्वरूप दोनों मान गये और मस्जिद में ही प्रेम के साथ बैठकर प्रार्थना की।

दूसरे दिन नमाज के समय पुनः मैं वहाँ पहुँचा। देखा, सारे भक्तजन बहुत शान्ति से बैठे थे। उन लोगों का मुझ पर बड़ा ही प्रेम और विश्वास था। हरएक ने आकर मेरे हाथ का चुम्बन किया। यह कार्यक्रम आध-पौन घण्टे तक चला।

वहाँ एक भी स्त्री नहीं थी। आखिर मुझे चंद बातें कहने के लिए कहा। तब मैंने कहा, 'आपकी शान्तिमय प्रार्थना देखकर मुझे बड़ी खुशी हुई। परन्तु मैं यह नहीं समझ सका कि ईश्वर की प्रार्थना में स्त्री-पुरुष का भेद क्यों रखा जाता है? मुसलमानों को अपने रिवाजों में इतना सुधार करना ही होगा।

कुरान-सार

विज्ञान ने विश्व को छोटा बना दिया है, और सभी मनुष्यों को निकट लाना चाहता है। ऐसे समय मानव-समाज अलग-अलग जमातों में बिखरा रहा और प्रत्येक जमात अपने को उच्च और दूसरों को निम्न मानने लगेगा तो कैसे चलेगा? हमें एक-दूसरे को अच्छी तरह समझ लेना होगा। एक-दूसरे के गुणों को ग्रहण करना होगा। 'कुरान-सार' इस दिशा में किया गया एक छोटा-सा प्रयत्न है। हृदयों को जोड़ने की प्रेरणा इस पुस्तक के प्रकाशन के पीछे है।

कुरान के वचनों का चयन, उनकी खण्ड-अध्याय-प्रकरण-परिच्छेदयुक्त रचना और उन सबके मराठी शीर्षक, इतना काम मैंने किया है। इसके सिवाय खण्ड-निर्देशक संस्कृत

श्लोक मेरे हैं। उन श्लोकों के आधार पर पूरा ग्रंथ स्मृतिपटल पर अंकित हो सकेगा। शीर्षकों में से कुछ संस्कृत में हैं, जो समन्वय की दिशा के सूचक हैं।

पाकिस्तान की सरकार ने मुझे कृपापूर्वक पूर्व बंगाल (अब बांग्ला देश) में पदयात्रा करने की अनुमति प्रदान की (१९६२)। पाकिस्तान की जनता का प्रेम हमें मिलेगा, यह हमें पूरा विश्वास था। लेकिन वह जो विश्वास था, वह जैसा कुरान में कहा है ‘इलमुल यकीन’ यानी बौद्धिक विश्वास था। परन्तु जनता के प्रेम का साक्षात्कार हुआ। १५० बीघा से अधिक भूमि दान में मिली।

कुरान-शरीफ का मेरा चयन तैयार था और पुस्तक प्रकाशित होनेवाली थी। किन्तु इससे पहले कराची के डॉन अखबार ने उस पर आलोचना की कि पिछले १३०० वर्षों में हमारे धर्मग्रंथ में इस तरह का फरक किसी ने नहीं किया था, अब यह करनेवाला काफिर निकला है। तब हिन्दुस्तान के तमाम मुस्लिम अखबारों ने मेरा समर्थन किया कि यह आलोचना उचित नहीं। कुरान का ऐसा सार पहले भी निकाला गया है। इसलिए ग्रंथ पढ़े बिना उसकी आलोचना करना गलत है। मैं मानता हूँ कि मुसलमानों का यह मुझ पर बहुत बड़ा उपकार है।

मोहम्मद की विशेषता

मुहम्मद पैगम्बर ने शुरू में तय किया था कि हम भगवान् के आधार पर यानी सत्य के आधार पर काम करेंगे। उसके लिए हमारा साधन है सब्र यानी शान्ति। मुहम्मद साहब के साथी उनकी नसीहत के अनुसार जीवन बिताने की कोशिश करते थे। ‘अलग-अलग उपासनाएँ गलत हैं’ ऐसा भी कहते थे। इसलिए उनके शिष्य बहुत सताये गये। उन्हें बहुत तकलीफ हुई। तब मुहम्मद साहब ने कहा "हम हिजरत करेंगे, इन लोगों को छोड़ेंगे।' ऐसा कहकर मुहम्मद साहब कुछ लोगों को लेकर मदीना गये। तब तक उनका चिन्तन पूर्ण

अहिंसक था। नये स्थान पर भी वे सताये जाने लगे। उनके साथी डरने लगे। मुहम्मद साहब ने समझाने की कोशिश की कि परमेश्वर हमारे साथ हैं। इसके बावजूद अनुयायी डरते रहे। तब उन्होंने कहा- “डरने की अपेक्षा तो अल्लाह की सेवा में लड़ना अच्छा।” और आत्मरक्षा के लिए उन्होंने शस्त्र धारण किये। लेकिन उन्होंने समझाया कि ‘लड़ते समय गुस्सा नहीं आना चाहिए। गुस्सा आये तो शस्त्र नहीं चलाना चाहिए।‘ इसकी उत्तम मिसाल है खलीफा उमर की।

कुरान का आदेश है कि ‘पाप का प्रतिकार पुण्य से ही होना चाहिए।’ उसमे यह प्रसिद्ध वाक्य है कि बुराई रफा (दूर) करनी है तो वह अच्छाई से ही हो सकती है। अच्छाई से ही उसे रफा करो, यह बेहतर तरीका है। लेकिन अगर वह न बन रहा हो और बचाव के लिए जितना जरूरी है, उतना ही क्रूरता-रहित शस्त्र-प्रतिकार करते हो तो वह क्षम्य है।‘ हमें मानना चाहिए कि उन्होंने जो कुछ किया, वह तत्कालीन परिस्थिति में ठीक ही था।

परम्परा दो प्रकार की होती है, एक वीरों की, दूसरी सन्तों की। समाज-व्यवस्था की जिम्मेदारी उठानेवाले वीर-परम्परावाले और समाज में चित्त-शुद्धि का विचार फैलाकर सामाजिक क्रान्ति लानेवाले सन्तों की परम्परा वाले। रक्षण के लिए शक्ति की उपासना और समाज-शुद्धि के लिए करुणा की उपासना; जिनके जीवन में दोनों तत्त्व एक हो गये हों, इस कोटि के थे मुहम्मद पैगम्बर। ऐसे ही कुछ और उदाहरण विश्व के इतिहास में मिलते हैं। एक ही व्यक्ति जब वीर पुरुष का रूप लेकर हाथ में तलवार उठाता है और सन्त बनकर भगवद्भक्ति की बात करता है, तब बिरोध भी आता है। उसमें दो विचार-प्रवाह मिलते तो हैं, लेकिन कुछ विरोध के साथ। समाज-रक्षा की जिम्मेदारी एक विचार है और समाज के लिए कारुण्य दूसरा विचार। रक्षण के लिए शक्ति की उपासना और समाज-शुद्धि के लिए करुणा की उपासना। शुद्धि और शक्ति दोनों देवताओं की उपासना करने में कुछ न कुछ

विरोध आता है। दोनों को पचाना एक बात है और दोनों का विरोध ही मिटा देना दूसरी बात है।

इसलाम का सन्देश

आरम्भ में इसलाम का प्रचार त्याग और आत्मबल से हुआ। शुरूआत में खलीफा की धर्मनिष्ठा के कारण हुआ।

जहाँ-जहाँ इसलाम पहुँचा, उसने सन्देश सुनाया –

- परमात्मा एक है।

- कोई भी मनुष्य कितना भी बड़ा क्यों न हो, परमात्मा के साथ उसकी कोई बराबरी नहीं हो सकती।

- अपने व्यवहार में किसी प्रकार का भेद नहीं करना चाहिए।

-सबका नाता बराबरी का है।

इसलाम का एक प्रभाव यहाँ के सारे समाज पर पड़ा। खासकर फकीर और सूफी जो प्रचार करते थे, उनका बहुत असर पड़ा।

मैं देखता हूँ कि चाहे चैतन्य महाप्रभु हों, कबीरदास हों या गुरुनानक, उनके जीवन और चिन्तन पर जितना असर वैष्णव-धर्म का हुआ, उत्तना ही कुरान का हुआ है।

इसलाम शब्द के दो अर्थ हैं। एक अर्थ है शान्ति और दूसरा है ईश्वर-शरणता। जो ईश्वर की शरण में जायेगा वह सत्कार्य करेगा, सदाचारी होगा। भक्ति के साथ सदाचार रहेगा ही।

ईश्वर के अद्वितीय एकत्व की मूलभूत कल्पना से मुहम्मद पैगम्बर की प्रतिभा चमक उठी है और उसके वर्णन में उनकी वाणी को बल मिला है, इतना कि अन्य किसी भी वर्णन को नहीं मिला। इसलाम का अर्थ ही है एकेश्वर-शरणता। संक्षेप में इसलाम की यह व्याख्या की जाती है। किन्तु ध्यान में रखने की बात यह है कि सम्पूर्ण वैदिक भक्तिमार्ग एकेश्वर-निष्ठा पर ही खड़ा है। 'एकमेवाद्वितीय' जैसे वचन निर्गुण ब्रह्मपरक मानकर छोड़ दिये और सगुण-परमेश्वर विषयक वचन विचार-कोटि में स्वीकार कर लिये गये। फिर भी एकेश्वर-निष्ठा प्रतिपादक वचन वेद से गीता-भागवत तक सैकड़ों बताये जा सकते हैं। परन्तु भक्ति के लिए ईश्वर-एकत्व सुविधापरक होने पर भी एकत्व संख्या से ईश्वर को निबद्ध करना यानी ईश्वर को मर्यादा में बाँधने जैसी बात है, ऐसा वैदिक तत्त्वज्ञान का कहना है। तदनुसार, ईश्वर एक है, अनेक है, असंख्य है, शून्य है और अनन्त है, यह विष्णु सहस्त्रनाम कहता है। ईश्वर 'अनेक' हैं नहीं ईश्वर 'अनेक' है, इतना न भूलें। पर यह भी भाषा का खेल है। 'मन वाचातीत तुझे जे स्वरूप' वहाँ कौन-से शब्द का कैसा आग्रह?

ऊपर-ऊपर से देखनेवालों को लगता है कि हिन्दू-धर्म में अनेक देवताओं की पूजा की जाती है। परन्तु यह सही नहीं है। मुहम्मद पैगम्बर के समय अरबस्तान में जो अनेक देवताओं की पूजा प्रचलित थी, उसका स्वरूप बिलकुल ही भिन्न था। हिन्दू-धर्म में विष्णु, शंकर, गणपति इत्यादि अनेक देवताओं की पूजा होती है, परन्तु वे सब एक ही परमेश्वर के अंश माने जाते हैं। लोग जानते हैं कि एक ही भगवान् के ये अलग-अलग नाम हैं, अलग शक्तियाँ हैं।

विवेक की भाषा

मुहम्मद पैगम्बर के अनुयायी (मुसलमान) मानते हैं कि मुहम्मद पूर्ण पुरुष थे। ईसा मसीह के अनुयायी (ईसाई) भी समझते हैं कि ईसा परिपूर्ण मानव थे। इस तरह भिन्न-भिन्न

महापुरुषों के अनुयायियों में यह खयाल रहता है कि वे महापुरुष पूर्ण थे, करीब-करीब परमेश्व-स्वरूप ही थे। इस तरह शिष्यों के मन में गुरु के प्रति पूर्णभाव रहता है, तो मैं उसका अर्थ समझ सकता हूँ। छोटे बालक के मन में अपनी माता के लिए ऐसा ही परिपूर्णता का आभास होता है और इसके लिए वह शोभा भी देता है। इस बारे में इसलाम ने जो बातें कहीं, वे मुझे बहुत महत्त्व की लगीं। वे कहते हैं कि मुहम्मद एक मानव थे, उन्हें ईश्वर की पदवी लागू नहीं हो सकती। ईश्वर एक, अद्वितीय है। उसकी बराबरी में कोई मानव नहीं आ सकता। **ला इलाह इल्लल्लाह, मुहम्मदद्रसूलिल्लाह**। यानी अल्लाह एक ही है, उसकी जगह कोई नहीं ले सकता। मुहम्मद पैगम्बर भी उसका पैगाम लानेवाला रसूल मात्र है, सेवक मात्र है। लेकिन भारत में जो गुरु-परम्पराएँ चलीं, उनमें ये मान्यताएँ रहीं कि उन-उन परम्पराओं के गुरु सब तरह से परिपूर्ण और ईश्वर ही थे। यह भक्ति की भाषा है। इसलाम में जो भाषा कही गयी, वह विवेक की भाषा है। मैं इस विवेक की भाषा को प्रधानता देता हूँ और भक्ति की भाषा को गौण स्थान।

रसूलों (प्रेषितों) की एकता

कुरान में कहा है – अल्लाह ने प्रत्येक जमात के लिए और प्रत्येक भाषा बोलनेवालों के लिए रसूल भेजे हैं, और हम रसूलों में कोई भेदभाव नहीं करते – **ला मुफर्रिक वैन अहदिम्मिद्रुसुलिह**। कुरान शरीफ में दाऊद, नूह, मोझेस, ईसा आदि कतिपय रसूलों के नाम दिये हैं और अन्त में कहा है कि "और भी बहुत सारे रसूल हो गये हैं, जिनके नाम तक आपको पता नहीं है।" कुरान में यह भी कहा है कि 'सभी रसूल (प्रेषित) समान योग्यता के हैं। हम उनमें कोई फर्क नहीं करते। परमेश्वर के जो प्रेषित जगत् में आये हैं, उनमें अमुक की अपेक्षा अमुक बड़ा है – ऐसा फर्क हम नहीं करते।' कुरान में एक ऐसा वचन है कि जगत् में जितने सत्पुरुष हो गये हैं, उनकी एक ही जाति है, उनमें भेद (अन्तर) नहीं है। सभी सत्पुरुष हृदय की एकता के लिए चिन्तित, बेचैन रहते थे। हृदय जोड़ने के लिए उन्होंने

काम किया और संसार में अभेद फैले, यह इच्छा रखी। सारी मानवता संगठित हो, यह उनका प्रयास था।

सारे रसूलों (प्रेषितों) की एक जमात है, ऐसा कुरान ने कहा है। मानवीय एकता की दृष्टि से यह बहुत बड़ी बात है, यह हमारे ध्यान में आ जाये तो कितने ही झगड़े खतम हो जायेंगे। फिर हम एक-दूसरे के अनुभवों का आदान-प्रदान कर सकेंगे, जैसा कि आज विज्ञान में होता है।

अतः इसलाम ने कहा है कि "**ला इक्राहफिद्दीन**" धर्म, धर्म के बारे में कभी जबरदस्ती नहीं हो सकती। फिर भी इस बात का मुसलमानों द्वारा बहुत बार भंग हुआ है, मुस्लिम राजाओं ने जोर-जबरदस्ती से धर्म का प्रसार किया है। इससे द्वेष ही फैला। सभी धर्मों ने संख्या का विचार किया है, यह सही है। पर संख्या में धर्म नहीं होता। धर्म तो एक निर्मल, शुद्ध तत्त्व है। मनुष्यता का विकास करना सभी धर्मों का कार्य है।

मेरी जिस चीज (बात) पर श्रद्धा है वह जबरदस्ती से दूसरों पर लादना चाहूँगा तो यह उचित नहीं होगा। जिस बात पर श्रद्धा है, उसका स्वयं आचरण करना ही उसका सच्चा प्रचार है।

कुरान में कहा है – "जो लोग १. अल्लाह को मानते हैं, २. रहम करते हैं, ३. एक-दूसरे को सत्य पर चलने के लिए मदद करते हैं, ४. एक-दूसरे को सब्र रखने में मदद करते हैं, केवल वे ही लोग सुरक्षित हैं। इसमें सब धर्मों का सार आ गया। सत्य, प्रेम और करुणा।

तराजू बिलकुल समान रहता है। कुरान ने तराजू को बहुत महत्त्व दिया है। कहा है कि जिस भगवान् ने सूर्य-चन्द्र पैदा किये, उसीने तराजू भी पैदा किया। पूरी दुनिया का व्यापार-व्यवहार तराजू से चलता है। तराजू यानी समत्व। सारे व्यवहार के मूल में समत्व

रहा है। कोर्ट में न्याय समत्व के आधार पर ही चलता है। सूर्य हरिजन के घर में भी पहुँचता है और ब्राह्मण के घर में भी। पानी समत्व रखता है। वह गाय और शेर में फर्क नहीं करता। ऐसी समानता हमारे जीवन में भी आनी चाहिए।

कुरान में ब्याज (के व्यवहार) को एकदम वर्जित माना गया है। जिसे हम सच्चा अर्थशास्त्र कहते हैं, उसके बिलकुल निकट का यह विचार है।

कुरान के चौदह रत्न ये हैं-

१. ईश्वर सगुण निराकार, २. देवता-निषेध, ३. ईश्वर-स्वतंत्रेच्छ, ४. तथापि कर्म-विपाक मान्य, ५. मानव का दैवीकिकरण निषिद्ध, ६. भक्ति सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य, ७. बचाव की हिंसा मान्य, ८. ब्रह्मचर्य की अपेक्षा नहीं, लेकिन आदर है, ९. संन्यास के विषय में यही भूमिका, १०. नैतिक मूल्य विहित हैं, ११. मरणोत्तर जीवन है, १२. पुनर्जन्म की कल्पना नहीं, परन्तु निषेध ही है, यह कहना ठीक नहीं होगा, १३. अन्तिम न्याय दिन, १४. जातिभेद नहीं।

अन्धश्रद्धा नहीं

कुरान में कहा है 'खातिमुन् नबीयुन।' यानी अब तक के नबियों ने जो कहा, उस पर मैं सील लगानेवाला हूँ। इसका अर्थ यह करना कि अब आगे कोई नबी आयेगा ही नहीं, नास्तिकता होगी। दुनिया तो करोड़ों वर्ष तक चलनेवाली है। फिर भी यह कहना कि आगे कोई पैगाम सुनानेवाला आयेगा ही नहीं, खुद की कुदरत को महदूद (सीमित) कर देना है, जो इन्सान की मर्यादा के बाहर है।

हिन्दू-धर्म प्राचीन है, इसलिए हिन्दू लोग पुरानी चीजों को महत्त्व देते हैं। और उनकी मुख्य चिन्ता यही रहती है कि उनके उद्गम स्थान जो प्राचीन वेद हैं, उनसे पहले की कोई चीज न निकले। अतः वेद को न केवल ज्ञान के अर्थ में, बल्कि पुस्तकाकार को भी वे अनादि

मानते हैं। इसी तरह इसलाम अर्वाचीन धर्म है, इसलिए मुसलमान मुहम्मद के वचन को 'आखिरी और संशोधित' वचन के तौर पर प्रमाण मानना चाहते हैं। उनकी मुख्य फिक्र यह होती है कि इसके आगे और कोई पैगम्बर न निकले।

वेदों के पूर्व का ईश्वरी वचन नहीं हो सकता और मुहम्मद पैगम्बर के बाद ईश्वरी वचन कोई निकलनेवाला नहीं है, इन दोनों का फलितार्थ एक ही है – अन्धश्रद्धा या मूढ़ आग्रह। सर्व-धर्म समभाव माननेवालों को इस दोष से बचना चाहिए।

कोई यह जरूर कह सकते हैं कि हमारे लिए वेद काफी हैं, या कुरान काफी है। वेद तो क्या, लेकिन और भी क्या कोई ग्रंथ जिससे चित्त की शुद्धि में मदद मिलती हो और चित्त का समाधान होता हो तो अपने लिए काफी है, ऐसा मान सकते हैं। लेकिन वह बिलकुल दूसरी बात है।

इसलाम की देन

इसलाम सबको समान मानता है। उपनिषद् आदि ग्रंथों में हमारे यहाँ यह विचार होते हुए भी सामाजिक व्यवस्था में उसका आचरण नहीं था। फकीरों ने गाँव-गाँव घूमकर इसलाम धर्म का प्रचार किया। उस समय यह बात यहाँ के लोगों को आकर्षक लगती थी। बीच के काल में भारत में अनेक पन्त हो गये हैं और उन्होंने जातिभेद के विरुद्ध आन्दोलन या अभियान शुरू करके एक ही ईश्वर की उपासना पर जोर दिया। इसमें इसलाम का बहुत अधिक हिस्सा (योग) था। भारत को इसलाम की यह बहुत बड़ी देन है।

•

३. ईसाई-धर्म

मानव-पुत्र ईसा

हमने ईसामसीह की शिक्षा का उतनी ही श्रद्धा से अध्ययन किया है, जितनी श्रद्धा से वेद और उपनिषदों का अध्ययन किया।

हमने धर्मों में भी भेदभाव पैदा कर दिया है। समाज एक-दूसरे से झगड़ते हैं। देश एक-दूसरे से शत्रुता बरतते हैं, लेकिन इन सबकी क्षुद्रता दर्शानेवाले कुछ महात्मा सारे जगत् में पैदा हुए हैं। ऐसे महापुरुषों में ही महात्मा ईसा एक हैं। वे अपने को मानव-पुत्र कहते थे। यानी वे अपने पर कोई भी संकुचित उपाधि, पदवी या श्रेणी लगाने को तैयार नहीं थे, अपितु अपने को सम्पूर्ण मानव-समाज का प्रतिनिधि समझते थे। मानव के बल और निर्बलता के ईसा प्रतिनिधि हैं। इसीलिए उन्होंने सम्पूर्ण मानवजाति की शुद्धि के लिए बहुत बड़ा प्रायश्चित किया।

ईसा का नाम हमारा ही नाम है। ईसाई धर्म यूरोप में गया, इसके बहुत पहले वह हिन्दुस्तान में आया था। हिन्दुस्तान में ईसामसीह के पहले बारह शिष्यों में से सेंट थॉमस नामक शिष्य हिन्दुस्तान में मलबार के किनारे उतरा था। शंकराचार्य के जन्म-ग्राम कालड़ी के निकट ही सेंट थॉमस का स्मारक है।

ईसा के नाम से 'सन्' शुरू हुआ, यह मुझे बहुत प्रिय है। अपने यहाँ शालिवाहन के नाम से 'शक' और विक्रमादित्य के नाम से 'संवत्' चलता है। दोनों राजाओं के नाम से चले। इससे बेहतर है कि सन्तपुरुष के नाम से चले।

ईसामसीह सारे भारत को कबूल हैं, हम उनके संदेश को शिरोधार्य मानते हैं। हम उसे पूरी तरह आचरण में लाने के लिए उत्सुक हैं। उन्हें हम अपने ही परिवार का समझते

हैं। हमारा दावा है जिसमें कोई अभिमान की नहीं, नम्रता की ही बात है कि ईसामसीह की शिक्षा का जितने व्यापक प्रमाण में सामूहिक प्रयोग महात्मा गांधी के नेतृत्व में भारत ने किया, उतना और कहीं हुआ या नहीं, यह हम नहीं जानते।

मेरा दावा है कि इस 'भूदान-यज्ञ' में मुझे ईसामसीह का आशीर्वाद प्राप्त है। यह मेरी अन्तरात्मा की आवाज है। ईसा ने यही शिक्षा दी कि पड़ोसी के जीवन से अपने जीवन को भिन्न समझना और उसकी चिन्ता को अपनी ही चिन्ता न मानना मानवता नहीं है। इसीलिए आज भूमि पर और सम्पत्ति पर जो मालिकी हक माना जाता है, उसे हम नष्ट करना चाहते हैं। हमारी इच्छा है कि व्यक्तिगत स्वामित्व का विसर्जन होकर सामूहिक मालिकी मान्य हो। आज का 'कम्युनिस्ट' शब्द ईसा के अनुयायियों की तरफ से ही आया है। उनके 'कम्यून' में व्यक्तिगत मालिकी की गुंजाइश नहीं है।

भूदानयज्ञ का कार्य ईसामसीह के दिखाये मार्ग पर ही चल रहा है, तब सब इसका अनुसरण करें, ऐसा जाहिरातौर पर मलबार में चर्च में सबने कहा, इसका मुझे आनन्द है। मेरा तो दावा है कि इस यज्ञ के कारण ईसा का सन्देश घर-घर पहुँचेगा।

मेरी भूदान-पदयात्रा का एकमात्र उद्देश्य था हृदयों को जोड़ना। मेरे जीवन के सारे काम हृदय जोड़ने के उद्देश्य से प्रेरित हैं। 'ख्रिस्तधर्म-सार' के प्रकाशन के पीछे यही प्रेरणा थी। मेरी 'ख्रिस्तधर्म-सार' पुस्तक पोप को भेजी गयी थी। उन्होंने आशीर्वाद दिया कि जिस सद्भावना से यह सार निकाला गया है, यह देखकर पोप को प्रसन्नता है।

विश्व-कल्याण की तीव्रता

ईसा के प्रारम्भिक तीस वर्ष कैसे बीते, यह कोई नहीं जानता। बहुत अधिक जानकारी प्राप्त करना जरूरी भी नहीं है। जितना चरित्र मैथ्यू, मार्क, ल्यूक और जॉन में मिलता है, उससे एक बात मेरे चित्त में बैठ गयी है और वह यह है कि ईसामसीह का जो

ब्रह्मचर्य था, वह कारुण्यमूलक था। उनमें मानवमात्र के लिए इतनी करुणा थी कि वे सहज ही ब्रह्मचारी हो गये। आधुनिक भाषा में कह सकते हैं कि ईसामसीह स्त्री-स्वभाव के थे। यह कोई वैज्ञानिक भाषा नहीं है। स्त्री-पुरुष-भेद आत्मा में नहीं है, शरीर में है। लेकिन समझाने के लिए कह सकते हैं कि ईसामसीह के चरित्र में स्त्री-स्वभाव की प्रधानता थी और उनका ब्रह्चर्य उसीमें से निकला था।

ईसा की भाषा तीव्र थी। वे बार-बार कहते हैं – हे शास्त्री, पण्डितो! दाम्भिको ! पापियो ! धिक्कार है तुमको ! जीसस की भाषा में जो कटुता है, वह प्रेम ही है और उनके अन्तःकरण की छटपटाहट की निशानी है। **यी वायपर्स अरे साँपो ! यी कास्ट नॉट पर्ल्स बिफोर स्वाइन्स** – इन सूअरों के सामने मोती मत डालो। पापी क्या, साँप क्या, सूअर क्या – क्या-क्या उपमाएँ दी हैं। यह मातृ-हृदय है, लेकिन गुरु-हृदय नहीं। मातृ-हृदय में करुणा है, प्रेम है और जबान जैसे खौलती हुई ! यह जो विसंगति है, वह ईसाइयों में दीखती है। है। उनके इस आवेश में बहुत मिठास है। उनके वे शाप-अभिशाप भी मीठे हैं। क्योंकि वे विश्वकल्याण की प्रेरणा से, छटपटाहट से निकले हैं और वे ऐसे महापुरुष के मुख से निकले हैं जिसके पेट में पूरा विश्व समा गया है।

देह से आत्मा को अलग करने की साधना के सन्दर्भ में मुझे ईसा का बलिदान याद आता है। उनके शरीर में कीलें ठोककर मार रहे थे। उस समय उनके मुँह से 'प्रभु, इस तरह कैसे छल रहे हो?' यह उद्गार निकला। परन्तु तत्काल प्रभु ईसा ने अपना सन्तुलन सम्हाला और कहा, 'प्रभु, तुम्हारी इच्छा पूरी हो, उन्हें क्षमा करो। उन्हें पता ही नहीं कि वे क्या कर रहे हैं।' ईसाइयों के इस उदाहरण में बहुत अधिक माधुर्य भरा है। देह से आत्मा को कितना अलग करना चाहिए, उसकी यह निशानी है। कहाँ तक दौड़ना चाहिए और यह शक्य है, यह ईसा के जीवन से ज्ञात होता है।

सत्याग्रह के उदाहरण के रूप में ईसा का नाम लेना ही होगा। लोगों ने उन्हें सूली पर लटका दिया, तब उन्होंने परमेश्वर की प्रार्थना की, 'भगवन्! उन्हें क्षमा कर।' सत्याग्रह का परम आदर्श उन्होंने इस प्रकार सामने रखा।

पांथिक आग्रह गलत

ईसामसीह ने कहा था, "मैं पुराने महापुरुषों के कथन का खण्डन करने नहीं, उनकी पूर्ति करने आया हूँ।" पर उन्होंने ऐसी पूर्ति की कि पूर्वाचार्यों के अनुयायियों ने उसे कतई कबूल नहीं किया। फलस्वरूप वह एक नया धर्म बन गया। परन्तु ईसामसीह की नया धर्म बनाने की कोई कल्पना नहीं थी। उनका यह नम्र दावा था कि "मैं यहूदियों के शास्त्र का नया संस्करण कर रहा हूँ।"

ईसामसीह ने निर्वैरता, अहिंसा तथा प्रेम की जो शिक्षा दी, उसे हम हृदयपूर्वक मान्य करते हैं, पर यह कैसे मान्य की जायेगी कि जो ईसा के नाम पर काम करेगा, उसीको मुक्ति मिलेगी? किसी एक विशेष पंथ का आश्रय लेनेवाला ही मुक्ति का अधिकारी हो सकता है, यह मानना बिलकुल गलत (मिथ्या) है। इस आग्रह से मुक्त हुए बिना वास्तविक मुक्ति सम्भव नहीं है। कोई विशिष्ट बात ही सही है, शेष सारी बातें गलत हैं, ऐसा आग्रह मुक्ति-विरोधी है। परमेश्वर इतना व्यापक है कि उसका ग्रहण किसी भी प्रकार से हो सकता है। ईसा ने स्वयं ही यह बात जहिर की है। उन्होंने कहा है, "मैंने यह घर बनाया है, परन्तु दूसरे भी घर हैं – But there are other mansions too. उन्होंने तो साफ-साफ यह भी कहा है कि 'जो प्रभु-प्रभु कहकर मेरा नाम नहीं लेते, पर मेरा काम करते हैं, वे मेरे ही साथी हैं।'

महापुरुषों के अनुयायी अपने-अपने गुरुओं के अनुभवों को प्रमाण मानते हैं। वे ज्यादा समझते नहीं, परन्तु श्रद्धा से मान लेते हैं। वे इतना ही नहीं करते, बल्कि दूसरों के

अनुभवों का खण्डन भी करते हैं। इसीसे झगड़ा खड़ा होता है। कोई ऐसा दावा करे कि परमेश्वर का यथार्थ ज्ञान, सच्चा ज्ञान एकमात्र हमारे गुरु को ही हुआ था, तो ऐसा दावा गलत होगा। स्वयं गुरु ऐसा दावा नहीं करता। अतः जितने भी श्रद्धावान् लोग हैं, फिर वे किसी भी गुरु के हों, उन सबकी एक जमात बननी चाहिए। शब्द भले ही अलग-अलग हों, यह अच्छा भी है, परन्तु हृदय से एक जमात ही हो।

एक ईसाई सज्जन से चर्चा चल रही थी। "ईसामसीह की शरण में गये बिना मुक्ति नहीं मिल सकती, यह ईसा ने ही कहा है, इस विषय में आपका मत क्या है?" मैंने कहा, "मैं ईसामसीह को महापुरुष समझता हूँ, उनके प्रति मेरा आदर भी है, परन्तु ख्रिस्त का मतलब एक पर्सनालिटी है और उस पर्सनॉलिटी की शरण में गये बिना मुक्ति नहीं, यह मानने के लिए मैं तैयार नहीं हूँ। वह एक भगवत् आविर्भाव ही था, यह मानने में मुझे कोई हर्ज नहीं है और क्राइस्ट का अर्थ एक व्यक्ति न होकर एक विचार है – इस अर्थ में उनकी शरण में जाने को मैं तैयार हूँ। भगवद्-गीता में भी श्रीकृष्ण ने कहा है – **सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज** - (सब धर्म छोड़कर मेरी शरण में आ।) अब क्या करें?"

तब वे सज्जन बोले, 'कौन झूठ बोल रहा है, यह तय करना होगा।'

मैं खुद ही कम झूठ नहीं हूँ। तो श्रीकृष्ण झूठ हैं या ईसा झूठ हैं, यह तराजू में तौलकर कौन झूठ है, यह निर्णय देनेवाला मैं कौन? मैं ऐसा मानता हूँ कि गीता में 'मेरी शरण में आ। ऐसा जो भगवान् कृष्ण कहते हैं, उसमें 'मैं' इम्पर्सनल है। वैसे ही **बुद्धं शरणं गच्छामि**। अगर बुद्ध की शरण जाना, कृष्ण की शरण जाना, ईसा की शरण जाना, ऐसा अर्थ लेंगे तो तीनों झगड़ते रहेंगे और समाज में कभी एकता नहीं सधेगी। धर्म से तो धारण होना चाहिए। यानी धर्म सबको एक सूत्र में बाँधनेवाला होना चाहिए। उससे समाज में प्रेम बढ़ना चाहिए। उसके बदले जो धर्म समाज में विद्वेष फैलाते हैं, उनको धर्म ही कैसे कहा जा सकता है?

ईसा की शरण में गये बिना मुक्ति नहीं, तो दो हजार साल पहले जो लोग हो गये, क्या वे मोक्ष के अधिकारी ही नहीं थे? कितनी अजीब बात है! साधारण मनुष्य के घर में भी तीन-चार दरवाजे होते हैं, लेकिन ईश्वर के घर में एक ही दरवाजा है ! क्या उस दरवाजे से गये बिना अन्दर प्रवेश नहीं होगा?

मानव-सेवा का उपदेश

ईसामसीह ने उपदेश दिया है **'सरमन ऑन दि माउंट'**-गिरि प्रवचन। इससे बढ़कर मानवसेवा का प्रतिपादक दूसरा ग्रंथ देखा नहीं। जो उठा सो भक्ति की बात करता है, लेकिन मानव के द्वारा जो भक्ति हो वह मानवसेवा के रूप में प्रकट होनी चाहिए, यह एक जोरदार विचार ईसामसीह ने रखा। ईसामसीह को यह श्रेय है कि उसने भक्ति को मानवसेवा का रूप दिया। मानवसेवा शास्त्र के खयाल से 'सरमन ऑन दि माउंट' को हम नम्बर एक का स्थान देते हैं।

उन्होंने एक जगह कहा है, 'आप ईश्वर पर प्रेम करने की बात करते हैं। लेकिन सामने यह भाई खड़ा दीख रहा है, उसे प्यार नहीं करते, तो जो नहीं दीखता उसपर कैसे प्रेम करोगे?' दुखी को साक्षात् सामने देखकर भी आपको करुणा की प्रेरणा नहीं होती। साक्षात् भगवान् आपके सामने अनेक रूपों में खड़े हैं-दुःखी के रूप में, गरीब के रूप में, परित्यक्तों के रूप में, बीमारों के रूप में, पिछड़े हुए लोगों के रूप में। पर उनपर प्रेम नहीं करते तो सीधा हिसाब है कि जो नहीं दीखता उसपर कैसे प्रेम करोगे? यह भक्ति का ढोंग होगा।

ईसामसीह ने कहा है **'दि लास्ट शैल बी फर्स्ट एंड दि फर्स्ट लास्ट ।'** यानी जो गिरे हुए हैं, अन्त में हैं, उन्हें ऊपर लाने का कार्य सर्वप्रथम होना चाहिए। सम्पूर्ण विश्व में ईसा का नाम लेकर रोगी, कुष्ठरोगी आदि की सेवा चल रही है।

ईसाइयों को मिशनरी कार्य की प्रेरणा ईसा से मिली है। मानवता का विकास ख्रिस्त-धर्म में हुआ। हमने भारत में भूतदवा का नाम लिया- 'सर्वभूत-हितेरतः।' रामकृष्ण परमहंस ने समझाया कि ईसा का उदाहरण लेकर भूतमात्र की सेवा करने में जितनी स्फूर्ति आयेगी, उससे बहुत ज्यादा स्फूर्ति तब आयेगी, जब कि हम जिनकी सेवा करते हैं, उन्हें अद्वैत से एक ही समझेंगे। अद्वैत और सेवा का रसायन अत्युत्तम है।

जहाँ तक मैं समझता हूँ 'ईसामसीह 'अद्वैती' ही थे। भले ही उस दार्शनिक अर्थ में न हों, जिस अर्थ में शंकर अद्वैती थे। लेकिन **अमृतस्य पुत्राः**-अमृत के पुत्र, परमात्मा के पुत्र यह संज्ञा पिता-पुत्र का अभेद मानकर उपनिषदों ने दी है, वेदों ने भी दी है। और वही भाषा ईसामसीह साक्षात् बोलते थे। उस जमाने के लोग इस अद्वैत-विचार को ईश्वर के विरुद्ध एक अपराध के तौर पर मानते थे। इसलिए वे ईसामसीह पर चिढ़े थे। और जैसे मंसूर को 'अनलहक' कहने के लिए पत्थर की मार खाकर मरना पड़ा था, वैसे ही ईश्वर-पुत्र और ईश्वर से अभिन्न होने का दावा करने के कारण ईसामसीह क्रूस पर चढ़ाये गये, ऐसा मैं मानता हूँ।... दार्शनिकवाद हम छोड़ दें तो ईसामसीह की भूमिका अद्वैत वेदान्त के अत्यन्त निकट जाती है। यह बात खासकर पॉल के अध्याय पर से स्पष्टरूपेण ध्यान में आती है।

सिखावन का सार

ईसामसीह की शिक्षा को मैं तीन वाक्यों में समझ लेता हूँ जो ये हैं – एक है **लव दाय नेबर एज दाय सेल्फ**-पड़ोसी पर वैसा ही प्रेम करो जैसा अपने पर करते हो। एक सादा-सा छोटा-सा वाक्य है, अर्थ समझने में जरा भी कठिन नहीं। लेकिन दुनिया में क्या चलता है? सबसे ज्यादा प्रेम मुझे 'अपने' पर है। नम्बर दो का प्रेम पति को अपनी पत्नी पर या पत्नी को अपने पति पर। नम्बर तीन अपने मित्रों पर ! इस तरह करते-करते आखिर कुछ लोगों से प्रेम नहीं, नफरत भी पैदा होती है। यह तो एक बात है, लेकिन उससे भी बुरी बात है

भाइयों का भाइयों से मत्सर। अड़ोसी-पड़ोसी के आपसी झगड़े, यह दूसरी बदतर बात। किन्तु वह शख्स जो प्रेममूर्ति था, कहता है कि जैसा अपने पर प्रेम करते हो, वैसा ही अपने पड़ोसी पर करो। ज्यादातर हमारा सामना पड़ोसी से होता है, इसीलिए उसने पड़ोसी का नाम लिया।

यदि इतना ही कहा गया होता कि **'लव दाय नेबर'** तो कोई बड़ी बात नहीं थी। इसे तो सब समझते हैं। मैं पड़ोसी पर प्यार नहीं करूँगा तो पड़ोसी भी मुझपर प्यार नहीं करेगा। इसे अंग्रेजी में कहते हैं '**सेल्फिशनेस**'-दूरदर्शी स्वार्थ। लेकिन इतना ही नहीं कहा। **एज दायसेल्फ** कहा-अपने जितना प्रेम करो, कहा। बहुत बड़ी बात है। मैं इस देह में रहता हूँ, आप उस देह में रहते हैं, किन्तु हम एक ही हैं। इस अनुभव से पड़ोसी पर प्रेम करना चाहिए। यह एक आध्यात्मिक वस्तु (विचार) हमारे समक्ष रखी गयी है। आत्मस्वरूप का भान हुए बिना सब पर समान प्रेम करना सम्भव नहीं है। ए**ज दाय सेल्फ** इन शब्दों से ईसा ने हमें ब्रह्म-विद्या के शिखर पर पहुँचा दिया है।

दूसरा वाक्य है-**लव युवर एनिमी**-अपने दुश्मन पर प्रेम करो। लोग समझते हैं कि यह कठिन बात है। मुझे लगता है, बिलकुल सरल बात है। सामनेवाला द्वेष करता है, हम प्रेम करेंगे, क्योंकि प्रेम से ही द्वेष को जीत सकते हैं। अभी हमने गाना सुना-**लीड काइंडली लाइट**। सामने अंधकार है। अंधकार को अंधकार से नहीं हटा सकते। आग लग रही है तो उसपर पानी डालना चाहिए, तभी आग बुझेगी। द्वेष से द्वेष ही बढ़ेगा। जिसने तुम्हारा अपकार किया, उसका भी मौका देखकर भला करो। इससे उसका हृदय जीत सकेंगे।

'**लव दाय एनिमी**' यह बात दूसरों ने भी कही है, परन्तु ईसामसीह ने जितनी स्पष्टता से कही है, उतनी स्पष्टता से किसीने नहीं कही थी। इसका अर्थ यह है कि किसीको शत्रु ही न माना जाय।

'शत्रु से प्रेम करो' कैसी सुन्दर और कुशल युक्ति है। वह मुझसे द्वेष करता है और मैं उससे प्रेम। मैंने उसके दिल में अपनी छावनी डाल दी है। अब वह मुझपर आक्रमण कैसे करेगा? युद्ध तो उसकी हृदयभूमि में ही छिड़ गया। मैं खुला हो गया। शत्रु की भूमि पर लड़ाई चल रही है और मैं सुरक्षित हूँ। शत्रु का नाश ही होगा। ज्ञानदेव ने कहा है, 'यदि मित्रता से ही दुश्मन मर जाता है, तो तलवार का बोझ क्यों ढोयें।'

'शत्रु पर प्रेम करो' इसमें कितना महान् शौर्य भरा है। जिसके हृदय में बल नहीं, उसमें इतनी हिम्मत कहाँ से आयेगी? पर हम सोचते हैं कि जो तलवार खींचता है, वही बलवान होता है। सच तो यह है कि तलवार की सहायता का विचार आते ही हम दुर्बल हो जाते हैं। तुकाराम ने विनोद में कहा है, "अरे, क्या करूँ, मैं तेरी खबर ले लेता, पर मेरे हाथ तो ढाल-तलवार में फँसे हैं, लडूं तो कैसे लड़ें?"

शस्त्र द्वारा मनुष्य निःशस्त्रों पर ही जोर आजमाता है। पर सवाया मिलते ही हाथ में से शस्त्र गिरने लगते हैं। तब इसमें क्या शौर्य रहा? हमने पिछले महायुद्ध में देख लिया कि जो लाखों लोग शस्त्र लेकर आक्रमण करने लगे थे, अन्त में उन्हीं को शस्त्र डालकर आत्मसमर्पण करना पड़ा। क्यों? गणित के कारण। सामनेवाले के पास युद्ध-सामग्री अधिक थी, इसलिए हथियार डाल देने पड़े। प्रारम्भ में शूरवीरता दिखाई और बाद में समझदारी। अन्त तक शत्रु से प्रेम करनेवाला ही शौर्य निभा सकता है।

'शत्रु से प्रेम करो' यह विरोध द्वारा विकास करने की सही पद्धति है। वह मुझसे द्वेष करता है और मैं प्रेमपूर्वक उसका प्रतिवाद करता हूँ। इसमें से एकता का सुसंवाद निर्माण होता है। यही वेदान्त है। कुरान में लिखा है, 'तेरी जिससे अदावत या दुश्मनी है, उसपर मित्रता का प्रयोग करके देख। तू पायेगा कि वह तेरा दुश्मन नहीं, प्राणसखा बन गया है।'

'शत्रु से प्रेम करो, इसका अर्थ क्या यह है कि पाप का प्रतिकार ही न किया जाय?' ऐसा पूछनेवाले ने निश्चित ही मान लिया कि पाप केवल उसके शत्रु में ही है, उसके पास तो पुण्य ही पुण्य है। परन्तु यह ठीक नहीं। पाप जहाँ-जहाँ भी हो, वहाँ उसका प्रतिकार अवश्य करना है। परन्तु प्रारम्भ स्वयं अपने से करें और समाप्ति शत्रु में।

अब तीसरी आज्ञा - ईसामसीह का अन्तिम समय था। उन्होंने शिष्यों को इकट्ठा किया, जिसको चर्च की भाषा में 'प्राइवेट मिनिस्टरी' नाम दिया गया है। वह अन्तर्मण्डल था और उनके समक्ष गुह्य बात रखी और उसको नाम दिया 'ए न्यू कमांडमेंट' - नयी आज्ञा, नया आदेश। वे सब अशिक्षित थे, कोई भी विद्वान् नहीं था। विद्वान् सेंट पॉल तो उनके तीस-चालीस वर्ष बाद आया। इनमें कोई मछुआरा था और कोई बढ़ई था। उनसे ईसा ने कहा, 'अब मैं जा रहा हूँ और नयी आज्ञा देता हूँ कि **'लव वन अनदर एज आय हैव लव्ड यू।'** जैसे मैंने तुम पर प्यार किया, वैसे एक-दूसरे पर प्यार करो।' ईसा ने कैसे प्यार किया? अपने मित्र, शिष्य और दुनिया के लिए अपना बलिदान दिया। जॉन ने इसका विवरण किया है कि मनुष्य अपने मित्रों के लिए बलिदान दे, उससे बेहतर प्रेम हो नहीं सकता।

सूचना, सलाह, उपदेश आदि न कहकर कमांडमेंट-नयी आज्ञा कहा। यदि '**लव वन अनदर**' इतना ही कहा होता तो बहुत सरल था। भाई-भाई हैं, आपस में प्रेम करें। शिष्य-शिष्य हैं, आपस में प्रेम करें, यह कठिन नहीं है, यह भ्रातृभाव है। परन्तु ईसा ने इतना ही नहीं कहा, कहा- '**ऐज आय हैव लव्ड यू**' भी जोड़ दिया। **स्नेह साधनम्** यह ईसा की आज्ञा है। हमारी शक्ति है स्नेह। शत्रु हो, पड़ोसी हो, स्नेही-साथी हो, केवल स्नेह साधनम्।

ईसामसीह ने कहा है कि हमसे प्यार करनेवाले पर अगर हम प्यार करें तो यह कौन बड़ी बात है? यह तो पशु-पक्षी भी करते हैं, इसमें कौन-सी मानवता है? जो हमसे प्यार करेगा, उससे हम प्यार करेंगे और जो हमसे द्वेष करेगा, उससे द्वेष करेंगे; तो इसका अर्थ

यह हुआ कि हम क्या बनेंगे, यह हमने सामनेवाले के हाथ में रख दिया।. . . ईसा ने कहा 'पड़ोसी पर प्रेम करो' इसमें 'अभिक्रम' शक्ति अपने हाथ में रहती है।

ईसा ने जाहिर किया है कि जो हमसे द्वेष करेगा, उसे भी हम प्रेम से जीत लेंगे। कितनी बड़ी शक्ति है इस बात में। विज्ञान के इस युग में बुद्धि कहती है कि हिंसा से समाज के प्रश्न हल करने की बात कहना निरी मूर्खता है। इसीलिए ईसामसीह का सन्देश अमल में (आचरण में) लाने का अवसर जल्दी ही आनेवाला है, जो विज्ञान के कारण आयेगा। यह मेरा दृढ़ विश्वास है।

विशिष्ट भूमिका

ईस्ना ने कहा है कि सूई के छेद में से ऊँट निकल सकेगा, पर धन का लोभी और मोही अहिंसा का साक्षात्कार नहीं कर सकेगा। इसे मैं अक्षरशः मानता हूँ। हमें शरीरश्रम से ही रोटी कमाने का व्रत लेना चाहिए और पैसे से मुक्त होना चाहिए। इससे अधिक स्पष्ट विधान शायद ही किसी ने किया हो। इसमें परिग्रह का पूर्ण निषेध है। चोरी का निषेध भी है ही, पर यह तो सब धर्मों की शिक्षा है। पर चोरी का मूल कारण संग्रह है, जिसके रहते चोरी मिटनेवाली नहीं। यह विशेष बात है।

ईसा से किसी ने पूछा, 'किसी ने मारपीट की, तकलीफ दी, तो कितनी बार सहन करें, सेवेन टाइम्स – सात बार?' वे बोले, 'आई से नॉट सेवेन टाइम्स, बट सेवनटी टाइम्स सेवन। - सात बार नहीं, सत्तर गुना सात बार ! ४९० बार क्षमा करो और फिर भी वह हमला करता ही रहे तो ४९० को ७० से गुणा करो। ईसा का वचन है, 'विरोधी विचारवाले के साथ तत्काल सहमत हो जाइये', 'उससे मेल साधिये और सो भी तत्काल।' आग्रह की शक्ति सीमित होती है। छोटी-छोटी बातों में उसका उपयोग किया तो बड़ी बातों के लिए वह बचती ही नहीं।

धर्म-प्रचार और धर्मान्तर

ईसा के अनुयायियों में भाग्य से ही कोई विद्वान् या विद्वद्वर्ग का था। उनमें तो कोई मछुआरा था, कोई चमार था, तो कोई बढ़ई था। सारे मामूली देहाती थे। लेकिन उनके जीवन में ईसा के बाद समरसता आयी। उन्होंने महान पराक्रम किया। कई मारे भी गये, लेकिन उन्होंने अपनी तेजस्विता नहीं खोयी। परिणामस्वरूप यूरोप के अनेक प्रतापी राजा झुके। ईसा की वह शिष्य-मण्डली आज तक मानव-समाज को प्रेरणा देती आ रही है। उनके साथ छल (धोखा) हुआ और इस प्रकार उनकी कसौटी होने पर ईसाई धर्म का प्रसार हुआ।

परन्तु बाद में ईसाई धर्म के प्रचार के साथ तराजू गया। तलवार भी गयी। ईसाई-धर्म के साथ अंग्रेज, फ्रेंच, पुर्तगाल आदि राज्यों (देशों) की राजनीति संगठित हो गयी। यह दुर्भाग्य की बात है। इस राजनीति के कारण वहाँ अनेक दुर्घटनाएँ हुईं और फलस्वरूप उस धर्म की अपेक्षित प्रतिष्ठा नहीं रही। उसके विरुद्ध एक प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। पूर्वाग्रह बने, यह दुःख की बात है।

ईसा से अधिक अहिंसा के महान् उपासक मिलना कठिन है। फिर भी ईसाइयों ने आज तक जितनी हत्याएँ (कत्ल) कीं हैं, उतनी दूसरे ने नहीं की होगी। किसी भी चर्च ने या किसी भी धर्म की संगठित संस्थाओं ने कुछ भी भला नहीं किया। चर्च ने बुद्धि को संकुचित बना दिया। व्यक्तिगत स्तर पर ईसाइयों ने, मिशनरियों ने बहुत अच्छे काम किये हैं। गरीब और अभावग्रस्त लोगों की उन्होंने विशेष सेवा की है। कुष्ठ रोगियों की सेवा-शुश्रूषा का भार सर्वप्रथम ईसाइयों ने ही उठाया। उनके कार्यों के पीछे धर्मान्तर की इच्छा (आकांक्षा) नहीं रहती तो उनके द्वारा अधिक उत्तम कार्य हो सकते थे। ईसाइयों के इस प्रकार शुभकार्य शुरू करने के पूर्व हिन्दू-धर्म में सेवा का आदर्श सुप्त स्थिति में था। ईसाइयों के अभिक्रम के कारण हिन्दू-धर्म में सेवा का आदर्श अंकुरित हुआ, इसमें सन्देह नहीं।

मेल

ईसाई-धर्म के कारण भारत में सेवा की वृत्ति और अभिरुचि पैदा हुई। दूसरों को ईसाई-धर्म की दीक्षा देने की इच्छा ईसा के अनुयायियों में न रहती तो उनके कार्य अधिक रमणीय और अधिक उज्ज्वल हुए होते। फिर भी उनके कार्य की उज्ज्वलता कम नहीं है।

कितने ही भारतीय ईसाई मांसाहार नहीं करते। उन पर यहाँ के दर्शन का असर पड़ा है। इसलिए मैं कहता हूँ कि वेद, उपनिषद् यहाँ के ईसाइयों का 'ओल्ड टैस्टामेंट' है।

भारत को ईसाई धर्म स्वीकार है। इसी प्रकार यहाँ के ईसाई धर्म को भारतीयता स्वीकार करनी चाहिए। दोनों का मेल होगा तभी दोनों में परिपूर्णता आयेगी, जिससे मानवता का सर्वांगीण दर्शन होगा।

•

४. बौद्ध-धर्म

बुद्ध वर्तमान समय की भूख

मेरा बचपन बड़ौदा में बीता। वहाँ सयाजीराव गायकवाड़ ने एक उद्यान में बुद्धमूर्ति की स्थापना की थी। मैं प्रतिदिन उस मूर्ति को निहारता था। सयाजीराव को बुद्ध के प्रति आकर्षण था। गांधीजी दूसरे विचार के थे, उन्हें भी बुद्ध के प्रति आकर्षण था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर तीसरे विचार के, पं. नेहरू चौथे विचार के, लेकिन उन्हें भी बुद्ध के प्रति आकर्षण था। डॉ. अम्बेडकर को भी बुद्ध के प्रति आकर्षण था। क्यों? क्योंकि वह आज के युग की भूख है।

आज दुनिया को बुद्ध-सन्देश की अत्यन्त आवश्यकता है। दुनिया में असमाधान और अशान्ति व्याप्त है। सारी दुनिया शान्ति की तलाश में है, लेकिन वह मिलती नहीं। परस्पर भय बढ़ रहा है। कम-ज्यादा ताकतवाले सारे देश एक-दूसरे से भयभीत हैं। इसके पहले कभी इतने भयभीत नहीं थे। आज दुनिया के किसी एक कोने में छोटी-सी हलचल होती है, खटका होता है तो सारी दुनिया पर उसका असर होता है। यह हालत विज्ञान से ही हुई है। अन्ततः विज्ञान का परिणाम यही होगा कि या तो मानव-जाति हिंसा और वैर बढ़ाकर जल्द से जल्द अपना विनाश कर लेगी या हमें अक्ल आ जायेगी और हिंसा के दुष्चक्र से मानवता मुक्त हो सकेगी। अब बीच की हालत नहीं रह सकती। इसीलिए भगवान् बुद्ध का निर्वैरता का सन्देश आज अत्यावश्यक है।

भगवान् बुद्ध ने स्पष्ट शब्दों में कहा था, भाइयो –

न हि वेरे वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं ।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो ।।

- धम्मपदं १.५

वैर से वैर कभी शान्त नहीं होता, कितनी भी कोशिश करो। अग्नि के शमन के लिए घी नहीं, पानी ही चाहिए। वैर से वैर बढ़ता ही है, शान्त नहीं हो सकता। यह उनकी शिक्षा का सार है।

करुणामय का प्रसाद

भूदान-यात्रा के सिलसिले में मैं लखनऊ पहुँचा था। बुद्ध जयन्ती का दिन था। उस दिन सहज ही मेरी वाणी से वाक्य निकल पड़ा कि 'भूदान-यज्ञ के रूप में वही धर्मचक्र प्रवर्तन का कार्य किया जा रहा है जिसे गौतम बुद्ध ने चलाया था।' उस वाक्य से उस दिन एक शक्ति-संचार मैंने अपने में महसूस किया। यात्रा आगे चली, हम सारनाथ पहुँचे। वहाँ के बौद्ध भिक्षुओं ने बहुत प्रेमपूर्वक 'धम्मपदं' मुझे भेंट किया। मानो मेरे दावे पर मुहर लग गयी। फिर पाँच दिन बाद बिहार की यात्रा शुरू हुई। सवा दो साल की वह यात्रा 'धम्मपदं' के प्रकाश में चली। बोधगया में समन्वय आश्रम की स्थापना हुई, जिसके लिए बुद्ध-मंदिर के समीप ही भूमि का एक टुकड़ा भी अनायास दान में प्राप्त हुआ। फिर आश्रम में कुआँ खोदते समय बुद्ध की छोटी-सी सुन्दर मूर्ति भी मिली। यह सब उस करुणामय का प्रसाद न कहा जाय तो क्या कहा जाय?

तीन सिद्धान्त

भगवान् बुद्ध ने तीन बहुत बड़े विचार दिये हैं –

(१) वैर से वैर नहीं मिटता : निरपवाद धर्म के रूप में यह बात उन्होंने जगत् के सामने रखी। निर्वैरता की उनकी कल्पना अमर है। उसके आधार पर मनुष्य आगे बढ़ सकता है। विज्ञान का विकास हमें निर्वैरता अथवा विश्वव्यापी वैर में चुनाव करने के लिए कह रहा है। विज्ञान जितना बढ़ता जायेगा, उतने ही 'गीता' और 'धम्मपदं' ग्रंथ पढ़े जायेंगे, क्योंकि उनमें अमर मूल्य, अमर तन्तु हैं।

(२) तृष्णा क्षय : दूसरा विचार उन्होंने यह दिया कि यदि हम तृष्णा बढ़ाते जायेंगे तो दुख बढ़ेगा, इसलिए आवश्यकताएँ बढ़ाते रहने में लाभ नहीं है। तृष्णा बढ़ने से दुःख ही बढ़ेगा। वासनाएँ बढ़ीं तो पतन अटल (निश्चित) है।

(३) बुद्धि की कसौटी का उपयोग : उनका तीसरा विचार यह है कि प्रत्येक बात (विचार) बुद्धि की कसौटी पर कसकर ही माननी या स्वीकार करनी चाहिए।

भगवान् बुद्ध ने लोगों को जो करुणा सिखायी, वह असामान्य ही थी। करुणा का मूल वासना-मुक्ति में है। वासना से निवृत्त हुए बिना यानी व्यापक विश्वभावना किये बिना और निर्वैर-वृत्ति के बिना करुणा असम्भव है, ऐसा दर्शन उन्हें हुआ। 'वैर से वैर कभी शान्त नहीं होता' यह सिद्धान्त अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में सर्वप्रथम गौतम बुद्ध ने रखा। उसके पूर्व वेदों में, उपनिषदों में प्रेम की महिमा, शान्ति की महिमा, अहिंसा की महिमा, निर्वैरता की महिमा गायी गयी है। लेकिन जितने स्पष्ट रूप में निःसंदिग्ध शब्दों में गौतम बुद्ध ने उसे रखा, उतना पहले किसीने नहीं रखा था। उसके प्रचारार्थ वे जिन्दगीभर विहार करते रहे। उनके बाद वैसे ही निःसंदिग्ध शब्दों में यह विचार ईसा ने रखा और भारत के सन्तों ने भी रखा।

मेरी दृष्टि में कारुण्य गौतम बुद्ध के विचार का एक पहलू है। बारीकी से देखें तो वह गौण है, मुख्य नहीं है। मुख्य है तृष्णाक्षय। हम अगर करुणा का काम करना चाहते हैं और तृष्णाक्षय की बात नहीं करते, उस शब्द के उच्चारण की हिम्मत भी नहीं करते, तो दूसरा काम अधूरा ही रहेगा। **तृष्णाक्षय के बिना अहिंसा टिकेगी नहीं**।

भगवान् बुद्ध को यह सूझा कि दुःख का मूल वासना में है, अतः वासना पर प्रहार करने की योजना बनानी चाहिए। केवल एक ही वासना में से थोड़ा-सा अंश दूसरे को पहुँचाने मात्र से क्या होनेवाला है? इस तरह की मदद का, दया का मार्ग दुःखच्छेदक न होकर तात्कालिक मरहम पट्टी मात्र है। इससे अशान्ति तथा दुःख का निरसन सम्भव नहीं

है। यह विचार ध्यान में आने पर वे स्वस्थ (चैन से) बैठ नहीं सके और सतत ४५ वर्ष वे महात्मा, गया से नेपाल तक के क्षेत्रों में विहार करते रहे और विहार करते-करते एक दिन देह तजकर चले गये। कितनी प्रचण्ड प्रेरणा उससे मिली। इसलिए आज ढाई हजार वर्षों के बाद भी हम गौतम बुद्ध का जन्मदिन मनाते हैं।

बुद्ध और जातिभेद

कई लोगों का मानना है कि बुद्ध ने जातिभेद-निरसन का कार्य किया। परन्तु ऐसा हो तो वह बुद्ध की एक असफलता ही मानी जायेगी। क्योंकि आज ढाई हजार वर्ष के बाद भी जातिभेद कायम है। इसलिए यह मानना सही नहीं है। ऊँच-नीचपन न हो, गुणों की ओर ध्यान दें, इत्यादि बातें बुद्ध ने कही। परन्तु जातिभेद-निरसन उनका अवतार-कार्य नहीं कहा जा सकता। उनका मुख्य विचार करुणा का था और करुणा के प्रतीक के तौर पर यज्ञ में होनेवाली पशु-हिंसा को उन्होंने उठा लिया था। भगवान् बुद्ध ने यज्ञ की पशु-हिंसा बन्द करने का एक स्थूल कार्य हाथ में लिया और उसके द्वारा करुणा का प्रचार किया। इसलिए 'कारुण्यावतार' के रूप में उनकी ख्याति हुई।

एकनाथ ने भी हरिजन बालक को गोद में उठा लिया था और जाति के अभिशाप का निषेध किया था। सभी सन्तों ने ऐसा किया है। लेकिन वे जात्युच्छेद पर तुले थे, ऐसा नहीं कहा जा सकता। ऐसा ही बुद्ध का भी मानना चाहिए। हाँ, यह कह सकते हैं कि सन्तों की अपेक्षा बुद्ध इस विषय में तीव्रतर थे। वैसा उनका उपदेश था, उनका कार्यक्रम नहीं था।

बुद्ध का उपकार

बुद्ध भगवान् को एक विचार सूझा। उन्होंने अपने सब साथियों तथा शिष्यों को आदेश दिया कि 'भिक्षुओ, निकल पड़ो। बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' निकल पड़ो, घूमो।' उन्होंने अकेले-अकेले घूमने का भी आदेश दिया, ताकि लोग अलग-अलग स्थानों पर जायें

और अधिक गम्भीर व व्यापक प्रचार करें। उन्होंने यति-संघ तथा भिक्षु-संघ निर्माण किये थे। 'यति' का अर्थ है संयम पालन करनेवाला और भिक्षु का मतलब है, जो दुनिया की निरन्तर सेवा करता है और दुनिया जो खिलाती है, वही खाता है। समाज चाहे कुछ भी खिलाये, वह काम करता जाता है। उन्होंने ऐसे व्रत लेनेवाले हजारों की तादाद में तैयार किये। वे भिक्षु गाँव-गाँव घूमे और लोगों को धर्म की दीक्षा दी। भगवान् बुद्ध चाहते थे कि भिक्षु जनता के सबसे छोटे और दुःखी लोगों के लिए अपना सर्वस्व त्यागें। भारत का सन्देश सारे संसार में फैलानेवाले बौद्ध भिक्षुओं के हम पर अगणित उपकार हैं।

गौतम बुद्ध ने भिक्षुओं के विहार को 'मैत्री-विहार' नाम दिया। सबव समान भूमिका पर लाने का नाम है मैत्री। मैत्री में ऊँच-नीच नहीं होत मैत्री में सब समान भूमिका पर आते हैं। पाली में उसे 'मेत्ता-विहार' नाम दिया है। मैत्री शब्द का प्रथम उच्चारण वेद ने किया – मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि (यजु. ३६-१८) – सबको मित्र की नजर से देखो। महात्मा बुद्ध ने वेद से यह मंत्र लिया और उसका व्यापक आन्दोलन खड़ा किया। इसके लिए अपना पूरा जीवन समर्पित कर दिया।

धम्मपद

बुद्ध भगवान् की सारी शिक्षाएँ धम्मपद में आ जाती हैं।

धम्मपद एक छोटी-सी पुस्तक है। मेरे लायक, विचारों से भरपूर। आसान और सरल। मुँह में डाला और निगल लिया। केवल ४२३ गाथाएँ २६ अध्यायों में बँटी हैं। गीता से भी छोटा आकार। भगवान् बुद्ध का धर्मचक्र-प्रवर्तन ही, उनके पदचिह्नों पर चलते हुए, आगे चलने की मेरी नम्र आकांक्षा है। इसलिए धम्मपद के अर्थ की काफी गहराई में मैं उतरता चला गया।

धम्मपद विवेचन नहीं है। वह बुद्ध की बिखरी हुई वाणी है। इसमें भी एक-एक गाथा या कहीं दो-चार गाथाएँ अलग-अलग प्रसंगों पर अलग-अलग लोगों को कही हुई हैं और बुद्ध के निर्वाण के बाद उनके शिष्यों ने प्रसंग हटाकर विचार-संगति को ध्यान में रखकर उन खुली गाथाओं का ग्रंथन किया है।

धम्मपद का मराठी गद्यानुवाद बचपन में ही मेरे पढ़ने में आया था। कई वर्षों के बाद मूल पाली ग्रंथ भी देखने को मिला। इसके लिए पाली भाषा का थोड़ा अध्ययन कर लिया था। उन दिनों मेरा मन गीता और उपनिषद् में रमा हुआ था। पर धम्मपद के कुछ वचनों का चित्त पर इतना असर रहा कि अपने प्रथम लेखन 'उपनिषदों का अध्ययन' की समाप्ति धम्मपद के एक वचन से मैंने की। यह बात है १९२३ की, जब मेरी उम्र २८ वर्ष की थी, और मेरे दिल और दिमाग में वेदान्त-रस भरा हुआ था। इसके २२ वर्षों बाद सन् १९४५ में गीता के 'स्थितप्रज्ञ दर्शन' पर मैंने व्याख्यान दिये। उनकी समाप्ति में वेदान्त और बौद्ध-दर्शन के अन्तिम ध्येयों की एकरूपता दिखाने की मैंने कोशिश की है।

इधर ज्ञानदेव, कबीर, नानक आदि सन्तों की शिक्षाएँ, उधर उपनिषद् और गीता की शिक्षाएँ, दोनों के बीच धम्मपद मुझे एक जोड़नेवाली कड़ी-सा मालूम हुआ। और उस दृष्टि से मैंने धम्मपद का अधिक सूक्ष्म अध्ययन किया, तो धम्मपदं के वचनों का एक व्यवस्थित क्रम मेरे मन में स्थिर हुआ। आज की धम्मपद की रचना कुछ संकीर्ण या सुभाषित-नीति जैसी है और उसमें उसका समन्वित दर्शन छिप-सा गया है। धम्मपद का जो क्रम मेरे मन में बैठ गया है, वह लोगों के सामने रखूँ। यह एक साहस ही था, लेकिन नम्रतापूर्वक मैंने यह साहस किया है। आशा है, उससे पाठकों को भारतीय परम्परा की ओर देखने की नयी दृष्टि मिलेगी। यह दृष्टि सज्जनों को हृदयंगम होगी और विश्व-मानव निर्माण में उससे मदद होगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

बौद्ध-धर्म का स्वरूप

बहुतों का खयाल है कि बौद्ध-धर्म केवल नैतिक है। परन्तु हमने जहाँ तक उसे समझा है, वह वैसा नहीं है। **बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि** – इस शरण-त्रयी में से 'धम्मं शरणं गच्छामि' अंश ही नैतिक है। 'संघं शरणं गच्छामि' यह सत्संगति का परिणाम बतलानेवाला है। सत्संगति से बड़ा लाभ होता है। सत्संगति की अपनी एक प्रक्रिया है, जो हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया है। सत्संगति से आप नये पाप नहीं करते, परन्तु पुराने पापों के दण्डों से मुक्ति का कोई मंत्र सत्संगति नहीं दे सकती। केवल 'बुद्धं शरणं गच्छामि' कहने से तुम पाप से मुक्त हो सकते हो। यहाँ ईश्वर की जगह एक आदर्श, प्रकट मूर्ति के तौर पर बुद्ध को रखा गया है। दूसरे धर्मों में जितनी गाथाएँ-कथाएँ-मूर्तियाँ ईश्वर के लिए बनायी गयी हैं, उतनी बौद्ध-धर्म में बुद्ध के लिए हैं।

बुद्ध का ग्लोरीफिकेशन - डीईफिकेशन (दैवीकरण) हुआ। बौद्ध-धर्म ईश्वर का नाम नहीं लेता, तिस पर भी बुद्ध का नाम लिया जाता है – 'बुद्धं शरणं गच्छामि' (मैं बुद्ध की शरण जाता हूँ)।

कली लागि झाला असे बौद्ध मौनी (कलियुग में बुद्ध मौनी हो गये। सन्त रामदास का यह वचन बड़ा मार्मिक है। मौनी यानी आत्मा, ब्रह्म आदि के प्रति मौन धारण करनेवाला। बुद्ध ने इन बातों का निषेध नहीं किया है। माँ बच्चे का नाम बार-बार लेती है, पत्नी पति का नाम नहीं लेती। पर दोनों के मन में प्रेम तो समान ही रहता है। बुद्ध स्वर्ग-नरक, पूर्वजन्म-पुनर्जन्म, बंध-मोक्ष आदि सब मानते हैं तो भिन्नता रही कहाँ?

बुद्ध भगवान् ईश्वर को मानते ही नहीं थे, यह कल्पना गलत है। ईश्वर की चर्चा करते रहना उन्हें पसन्द नहीं था, इतनी ही बात है। ब्रह्म-विद्या का सम्बन्ध ईश्वर के अस्तित्त्व के विचार से उतना नहीं, जितना प्राणीमात्र में स्थित आत्मतत्त्व के अस्तित्व से है।

बौद्ध-धर्म शून्यवादी है, गीता ब्रह्मवादी। परन्तू शून्य और ब्रह्म में फर्क नहीं है। जहाँ कुस्मृतियाँ और अशुभ स्मृतियाँ समाप्त होती हैं, वहाँ आत्मस्मृति जागती है तथा शुभ स्मृतियाँ हजम होती हैं। इसी को बौद्ध शून्य कहते हैं। और गीता भी कहती है कि जहाँ आत्मस्मृति जागेगी, वहाँ अन्य स्मृतियाँ खतम होंगी। गीता विधायक भाषा बोलती है, बौद्ध निषेधक भाषा बोलते हैं। अंधकार का मिटना और प्रकाश का आना, दोनों अलग-अलग नहीं है। इसलिए गीता की परिभाषा में एक नया श्लोक बनाकर – **एकं ब्रह्म च शून्यं च यः पश्यति स पश्यति** – हमने स्थितप्रज्ञ दर्शन पुस्तक समाप्त की है।

स्वतंत्र कुछ नहीं करना था

गौतम बुद्ध हिन्दू-धर्म में जनमे, हिन्दू-धर्म में ही बढ़े और उसीमें मिल गये। उनको अपना स्वतंत्र कुछ खड़ा नहीं करना था। धर्म-विचार की शुद्धि करनी थी और वह उन्होंने की। और हिन्दुओं ने अपनी पद्धति के अनुसार हाँ-ना करते और थोड़ा झगड़ते हुए भी अन्त में उसे स्वीकार कर लिया। पूरे धम्मपद में ऐसा एक भी वचन मिला नहीं जो मुझे हिन्दू के नाते स्वीकार न हो सके। कबीर आदि सन्तों के वचनों से जिसका परिचय है, उसे थोड़ी भिन्न परिभाषा के अलावा अपरिचित ऐसा कुछ भी धम्मपद में मिलेगा नहीं। प्राचीन भारत में कुछ समय तक वैदिकों की ब्राह्मण संस्कृति, जैनों की श्रमण संस्कृति और बौद्धों की भिक्षु संस्कृति – ऐसी मानो तीन भिन्न-भिन्न संस्कृतियाँ चलीं। उनमें संघर्ष भी दीर्घकाल तक चला। लेकिन धम्मपद में उस संघर्ष की निशानी तक नहीं है। सर्वत्र निर्मल समभाव दिखाई देता है।

आगे चलकर भगवान् बुद्ध के शिष्यों ने सृष्टि-विज्ञान, उसकी उत्पत्ति आदि के विषय में काफी बातें कहीं। उसमें तत्त्वज्ञान का अंश था और उसका खण्डन-मण्डन भी हुआ। लेकिन वह खण्डन इस अर्थ में नहीं था कि बुद्ध भगवान् ने जो धार्मिक शिक्षाएँ कहीं, उस

पर आक्षेप था। किन्तु भगवान् बुद्ध ने जो सामाजिक, नैतिक और धार्मिक शिक्षा दी, उसके लिए यदि कुछ भी विरोध होता तो बुद्ध की गणना अवतारों में कभी न होती।

राम-कृष्ण-बुद्ध

हम हमारे धर्म-विचार में राम-कृष्ण के साथ बुद्ध को स्थान दें, तो धर्म अधिक व्यापक होकर उसके पूर्ण विकास को गति मिलेगी। अतः आज धर्म-सुधार में समन्वय-दृष्टि की जरूरत है, उसमें करुणा को स्थान होना चाहिए। करुणा ही भक्ति का रहस्य है। सन्तों ने भी यह कहा है। शंकराचार्य ने नारायण को करुणा-मूर्ति माना। उन्होंने कहा, **'भूतदयां विस्तारय, तारय संसार-सागरतः।** आगे वे कहते हैं – **नारायण करुणामय**। बुद्ध ने जिस भूत-दया के विस्तार की बात विस्तारपूर्वक प्रस्तुत की, वही शंकराचार्य ने विष्णु को करुणामय नाम देकर कही। यह हिन्दू-धर्म की पद्धति है।

इसीलिए रोज की मौन प्रार्थना के समय मैं कहता हूँ कि मौन में हम परमेश्वर के इन तीन बड़े गुणों – सत्य, प्रेम, करुणा का चिन्तन करें। सत्य कहते ही प्रभु रामचन्द्र सामने खड़े जो जाते हैं। प्रेम कहते ही भगवान् कृष्ण सामने आ जाते हैं, क्योंकि अनासक्ति के बिना प्रेम नहीं और प्रेम के बिना अनासक्ति नहीं। और करुणा कहते ही भगवान् बुद्ध सामने खड़े हो जाते हैं। अतः राम-कृष्ण-बुद्ध कहना हो तो सत्य-प्रेम-करुणा कहने से चल जायेगा। अलावा, ये तीन गुण सब धर्मों का सार भी है। हिन्दू- धर्म में **सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म** आदि वचन हैं। अर्थात् इसमें परमेश्वर का सत्य स्वरूप सर्वश्रेष्ठ माना है। ईसाई धर्म में '**गॉड इज लव**' कहते हैं, अर्थात् परमेश्वर का प्रेमस्वरूप सर्वश्रेष्ठ माना। इसलाम में '**रहमानिद् रहीम**' कहा है, अर्थात् परमेश्वर का करुणामय स्वरूप सर्वश्रेष्ठ माना। इस तरह सत्य-प्रेम-करुणा सब धर्मों का भी सार है और राम-कृष्ण-बुद्ध का भी सार है। इसलिए बुद्ध की करुणा का पुनरुद्धार करने की आज अत्यन्त आवश्यकता है।

आजकल हरिजन बौद्ध बन रहे हैं। परिणामस्वरूप ब्राह्मण और हरिजनों में पुराने जातिभेद के साथ धर्मभेद भी जुड़कर दोनों के बीच अन्तर बढ़ रहा है। ऐसा नहीं होना चाहिए। हरिजन बुद्ध का नाम ले रहे हैं, वे हमारा ही नाम ले रहे हैं। जिन्हें हम भूल गये थे, उनकी वे याद दिला रहे हैं। यह तथ्य ही है कि सारे समाज ने हरिजनों के साथ अन्याय किया है, अतः वे चिढ़े हैं। लेकिन अब सबको कारुण्य की दीक्षा ग्रहण करनी है। खुशी की बात है कि हरिजनों ने इसका आरम्भ कर दिया है। हम भी राम-कृष्ण के साथ बुद्ध का नाम लेंगे तो लोगों को ध्यान में आयेगा कि राम-कृष्ण के साथ बुद्ध का कोई विरोध नहीं। तब हिन्दू-धर्म को समन्वय का भव्य रूप प्राप्त होगा।

शैव और वैष्णवों का जैसे पूरी तरह समन्वय हुआ, वैसे ही वैदिक और बौद्ध-विचारों का पूरी तरह समन्वय होना बाकी है, जो हमें करना है।

वेदान्त और गौतमबुद्ध के विचारों का समन्वय भारत के लिए सर्वोत्तम रसायन सिद्ध होगा। मेरा विश्वास है कि वेदान्त और अहिंसा के समन्वय से भारत और विश्व का कल्याण होगा। वास्तविक वेदान्त और अहिंसा भिन्न नहीं है। वेदान्त के बिना अहिंसा को आधार नहीं और अहिंसा के बिना वेदान्त को आकार नहीं।

सर्वोत्तम देन

आज हम गौरवपूर्वक कहते हैं कि हिन्दुस्तान की दुनिया को अगर कोई सर्वोत्तम देन है तो वह भगवान् बुद्ध की है। भगवान् बुद्ध यहाँ के समाज के सर्वोत्तम प्रतिनिधि थे। उनकी शिक्षा यहाँ के सत्पुरुषों ने तथा शैव-वैष्णवो ने भी अच्छी तरह मान्य कर ली है और वह हमारे लिए तथा दुनिया के लिए तारक है, ऐसा हमारा मन्तव्य है।

अब मानो बुद्ध-युग का आरम्भ हो रहा है। जैसे मिट्टी से बीज ढंका जाता है और फिर उसमे से वह अंकुरित होता है, वैसे ही बीच के जमाने में बुद्ध की शिक्षा का बीज कुछ ढँका-सा रहा और अब वह अंकुरित होता दिखाई दे रहा है।

•

५. जैन-धर्म

वर्धमान महावीर

बुद्ध और महावीर भारतीय आकाश के दो उज्ज्वल नक्षत्र हैं। गुरु-शुक्र के समान तेजस्वी तथा मंगल-दर्शन। बुद्ध का प्रकाश दुनियाभर में फैला। महावीर का प्रकाश भारत के हृदय में गहराई तक पहुँचा। बुद्ध ने मध्यम-मार्ग सिखाया, महावीर ने मध्यस्थ-दृष्टि दी। दोनों दयावान् और अहिंसाधर्मी थे। बुद्ध बोध-प्रधान थे, महावीर वीर्यवान् तपस्वी।

बुद्ध और महावीर दोनों कर्मवीर थे। लेखन-वृत्ति उनमें नहीं थी। वे निर्ग्रन्थ थे। उन्होंने किसी भी शास्त्र की रचना नहीं की। वे जो बोलते थे, उसी में से शास्त्र का निर्माण होता था। उनका बोलना सहज था। उनके बिखरे हुए विचारों का संग्रह भी बाद में लोगों को करना पड़ा।

महावीर स्वामी को वर्धमान कहते हैं। वर्धमान यानी नित्य बढ़नेवाला। आज का कल नहीं, रोज-रोज विकसित होनेवाला। चित्त का विकास, गुणों का विकास रोज होता है, यह महावीर की स्थिति थी। काल के साथ लड़कर वे वीर बने और फिर 'वीर' से 'महावीर' बने। इसलिए यह वर्धमान नाम उनको शोभा देता है।

समणसुत्तम्

जैनों ने विपुल साहित्य का निर्माण किया है। जैनों के जो ग्रंथ आज उपलब्ध हैं, उनकी संख्या दस हजार से कम नहीं होगी। जीवन की कोई शाखा नहीं होगी, जिस पर जैनों ने नहीं लिखा होगा। अध्यात्म, तत्त्वज्ञान से लेकर संगीत, वैद्यकशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र तक कोई भी विषय उन्होंने नहीं छोड़ा।

जैन साहित्य पढ़ने का गोरखधंधा मैंने जवानी में किया। इसके लिए अर्धमागधी सीखी। कोश प्राप्त किया और आचारांग सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, समयसार, कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रंथ आदि जितना सम्भव हो सका, देख लिया। १९२३ में जेल में एक जैन भाई ने मुझे एक 'छह-ढाला' नाम की पुस्तक दी थी। उसमें जैन परिभाषाएँ अच्छी तरह समझायी गयी है। गांधीजी के गुरुतुल्य श्रीमद् राजचंद्र की पुस्तकें भी मैंने देख लीं।

अपने जीवन में मुझे अनेक समाधान प्राप्त हुए हैं। उनमें आखिरी समाधान समणसुत्तं के रूप में इसी साल (२५.१२.१९७४)। मैंने कई दफा जैनों से प्रार्थना की थी कि जैसे वैदिक-धर्म का सार गीता में सात सौ श्लोकों में निबद्ध है, बौद्धों का धम्मपद में संकलित है; जिसके कारण ढाई हजार वर्षों के बाद भी बुद्ध का धर्म लोगों को मालूम होता है, वैसे जैनों का होना चाहिए। यह जैनों के लिए मुश्किल बात थी, इसलिए कि उनके अनेक पन्थ हैं और ग्रंथ भी अनेक हैं। जैसे बाइबिल है या कुरान है, कितना भी बड़ा हो, एक ही है। लेकिन जैनों में श्वेताम्बर, दिगम्बर ये दो हैं, इसके अलावा तेरापंथी, स्थानकवासी ऐसे चार मुख्य पंथ तथा दूसरे भी पंथ हैं। और ग्रंथ तो बीस-पचीस हैं। मैं बार-बार उनको कहता रहा कि आप सब लोग, मुनिजन इकट्ठा होकर चर्चा करें और जैनों का एक उत्तम सर्वमान्य धर्मसार पेश करें। आखिर वर्णीजी नाम का एक 'बेवकूफ' निकला और बाबा की बात उसको जँच गयी। वे अध्ययनशील हैं, उन्होंने बहुत मेहनत कर जैन-परिभाषा का एक कोश (जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, चार भाग) भी तैयार किया है। उन्होंने जैनधर्म-सार नाम की एक किताब तैयार की, इसकी हजार प्रतियाँ निकालीं और जैन समाज में विद्वानों के पास और जैन समाज के बाहर के विद्वानों के पास भी भेजीं। विद्वानों के सुझावों पर से कुछ गाथाएँ हटाना, कुछ जोड़ना, यह सारा करके 'जिणधम्म' पुस्तक प्रकाशित की। फिर उस पर चर्चा करने के लिए बाबा के आग्रह से दिल्ली में एक संगीति बैठी। उसमें मुनि, आचार्य और दूसरे विद्वान्, श्रावक मिलकर लगभग तीन सौ लोग इकट्ठा हुए। बार-बार चर्चा करके फिर उसका नाम

भी बदला, रूप भी बदला। आखिर सर्वानुमति से 'श्रमण-सूक्तम्' – जिसे अर्धमागधी में 'समणसुत्तं' कहते हैं, बना। उसमें ७५६ गाथाएँ हैं। ७ का आँकड़ा जैनों को बहुत प्रिय है। ७ और १०८ का गुणा करने पर ७५६ बनता है। सर्वसम्मति से इतनी गाथाएँ लीं और तय किया कि चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को वर्धमान जयन्ती आयेगी, (जो इस साल २४ अप्रैल १९७५ को पड़ती है), उस दिन वह ग्रंथ अत्यन्त शुद्ध रीति से प्रकाशित किया जाय। जयन्ती के दिन जैन-धर्म-सार, जिसका नाम 'समणसुत्तं' है, सारे भारत को मिलेगा और आगे के लिए जब तक जैन-धर्म मौजूद है, तब तक सारे जैन लोग और दूसरे धर्म के लोग भी 'समणसुत्तं' पढ़ते रहेंगे। एक बहुत बड़ा कार्य हुआ है, जो हजार-पन्द्रह सौ वर्षों में नहीं हुआ था। उसका निमित्त मात्र बाबा बना, लेकिन बाबा को पूरा विश्वास है कि यह भगवान् महावीर की कृपा है।

जैनों की अहिंसा

जैनों के मुख्य तीन सिद्धान्त माने जाते हैं - अहिंसा, अनेकान्तवाद और अपरिग्रह। इनमें पहला अहिंसा का सिद्धान्त व्यापक है, गहरा है। लेकिन उसका कम-से-कम अर्थ किया जाय तो वह है माँसाहार-मुक्ति। जैनों ने इसका उत्तम प्रकार से पालन किया है। जैनों की कुल दुनिया के लिए यह बहुत बड़ी देन है। जैन-धर्म ने हमें सिखाया है – 'मनुष्य की मानवता दूसरे प्राणियों की रक्षा करने में है। उन्हें अपना आहार बनाना गलत है।' यह विचार जैन-धर्म की दुनिया को बड़ी देन है।

सामुदायिक मांसाहार-निवृत्ति का सर्वाधिक श्रेय सम्भवतः जैनों को है। फिर वैष्णव, ब्राह्मण आदि ने वह विचार उठाया (अपनाया)। आज इस देश में करोड़ों लोग पूर्ण मांसाहार-मुक्त हैं और जो मांसाहार करते हैं, वे भी उसे अच्छा मानकर नहीं करते। यह जैन-विचार की विजय है।

जैनों ने भी अहिंसा का नाम लिया और गांधीजी ने भी। लेकिन हमने देखा कि गांधीजी की अहिंसा से जो शक्ति पैदा हुई, वह जैनों की साम्प्रदायिक अहिंसा से नहीं हुई; क्योंकि उन्होंने उसका अर्थ संकुचित कर डाला। इतना संकुचित अर्थ कर लिया गया कि अहिंसा के खयाल से (एक पंथ ने) खेती करना भी गौण मान लिया। क्योंकि खेती में कीड़ों की हिंसा होती है। किन्तु अहिंसक को व्यापार की मनाही नहीं है। आचार्यों ने 'कृत, कारित और अनुमोदित' तीन प्रकार की हिंसा बतायी है। कृषि में यदि हिंसा है तो कृषि में पैदा हुए अनाज का व्यापार करना उस हिंसा का अनुमोदन ही हुआ। इसलिए गांधी ने सिखाया कि अहिंसा की शक्ति हम मानव-मानव के बीच का वैरभाव मिटाने में लगा दें। मत्सर, क्रोध आदि को चित्त में से निकालकर चित्त-वृत्ति शुद्ध करें। मानवों के व्यवहार में ही हमारी अहिंसा की कसौटी होती है।

लोग समझते हैं कि जैनों की सबसे बड़ी देन अहिंसा है, लेकिन वह बड़ी बात नहीं। उपनिषद् में भी अहिंसा का उल्लेख है – **तपोदानं आर्जवं अहिंसा सत्यवचनम्।** अब यह कहना मुश्किल है कि उपनिषद् पहले था कि जैनशास्त्र पहले था। किन्तु अहिंसा बहुत प्राचीनकाल से चलती आयी थी। उसे विशेष रूप देने का प्रयत्न जैन आचार्यों, गौतम बुद्ध, वैष्णव सन्त आदि ने किया। यह भी ठीक है कि जैन लोग बहुत तपस्वी थे। लेकिन वह भी पहले से मानी हुई बात थी। मैं ये दोनों महावीर की विशेषताएँ नहीं मानता, यद्यपि दोनों बातें महावीर के जीवन में विशेष रूप में प्रकट हुई थीं।

सत्यग्राही दृष्टि

महावीर की विशेषता यह है कि किसी के हृदय में, धक्का दिये बिना, कुशलता से प्रवेश करना। दीवार में से प्रवेश करने की कोशिश की तो टकरायेंगे। इसलिए दरवाजे में से प्रवेश करना चाहिए। महावीर स्वामी के निकट जो भी मनुष्य आता था, उसके अनुकूल विचार क्या है, यह पहले देखते थे। सो चर्चा के लिए आया हुआ मनुष्य मानता था कि उसके

विचार का मंडन हुआ और उसकी प्रतिष्ठा हो जाती थी। 'बेसिक फिलासफी' मिल गयी, फिर विचार की दूसरी बाजू भी हो सकती है। यह उनका अहिंसा का विचार था। सत्य का एक अंश इधर होता है, दूसरा अंश उधर होता है। बीच में पूर्ण सत्य है। यह उनकी दृष्टि थी। बाद में लोगों ने उसे बहुत बड़ा नाम दे दिया- स्याद्वाद'। मैंने उसे नाम दिया है- 'अपि सिद्धान्त।' मेरे पास ही पूर्ण सत्य है, ऐसा नहीं, सामनेवाले के पास भी सत्य का अंश है। उस अंश को, पहलू को ग्रहण करना चाहिए। उसमें नया जोड़ सकते हैं। इसे मैंने 'सत्यग्राही-दृष्टि' नाम दिया है।

आजकल 'सर्वधर्म समभाव' यह एक नया शब्द लोगों को मिला है। परन्तु जिन्हें महावीर का परिचय है, उनके लिए यह कोई नयी बात नहीं है। मेरी दृष्टि में महावीर 'सर्वधर्म-समन्वयाचार्य' हैं। सत्य के एक-एक पहलू को लेकर लोगों के समक्ष भिन्न-भिन्न पंथों के रूप में एक-एक 'नय' प्रस्तुत किया जाता है, परन्तु पूर्ण सत्य उन सब सत्यांशों को ग्रहण करने पर ही हाथ लगता है – यह है महावीर का मुख्य विचार। अहिंसा तो उसके पेट में सहज ही समा जाती है।

'अनेकान्तवाद' यानी किसी भी चीज (विचार) का आग्रह न रखा जाय। हरएक के पास सत्य का कुछ-न-कुछ अंश होता है। हिन्दुओं के पास, बौद्धों के पास, मुसलमानों, ईसाइयों के पास सत्य का अंश होता है। उसे अच्छी तरह ग्रहण करें, सबके साथ मेल करें। ऐसा करने से किसी के साथ झगड़ा या विवाद नहीं होगा। इस तरह हरएक के साथ मेल करना जैनों की उत्तम वृत्ति है, उसका प्रभाव सारे भारत पर पड़ा है और सारे समाज पर पड़ा है। हिन्दू हो, बौद्ध हो, सिक्ख हो, सब पर पड़ रहा है।

'अनेकान्तवाद' कोई वाद नहीं, एक पहचान है, एक दृष्टि है। हरएक के दृष्टिकोण को (सत्यांश को) महत्त्व देंगे, तभी सत्य का सर्वांगीण ग्रहण होगा। यह मध्यस्थ-दृष्टि ही महावीर

की विशेषता है, यही अहिंसा है। (अनेकान्त का पारिभाषिक अर्थ है वस्तु का अनेक धर्मात्मक होना।)

विचारों का आग्रह रखने पर लड़ाइयाँ होती हैं। अहिंसा का मूल पकड़ना हो तो मध्यस्थ-दृष्टि, समत्व की दृष्टि आनी चाहिए। जैनों ने प्रहार नहीं किया, उपहार दिया। महावीर की पद्धति उपहार की, प्रेम से चर्चा करने की थी।

जैनों का काम चीनी (शक्कर) का

जैनों ने अपनी संख्या बढ़ाना उचित नहीं माना। दूसरे धर्मवाले संख्या बढ़ाते गये और आखिर नया असुर उत्पन्न हुआ, जिसका नाम है संख्यासुर। बहुमत को माना, यह नयी बात आ गयी। जैनों ने तो अपना शुद्ध विचार सामने रखा। इसी में जैनों की सार्थकता है। वे पंथ बनाना नहीं चाहते, वे जामन का काम करना चाहते हैं, बल्कि चीनी का काम करना चाहते हैं। दूध में चीनी मिलायी जाती है। लेकिन नाम दूध का रहता है, चीनी का नहीं। यद्यपि चीनी का बहुत उपयोग है। मैं समझता हूँ कि जैनधर्म चीनी का काम करना चाहता है। हमलावर धर्म हमला करके मिट जाता है। परन्तु जैन का अर्थ ही जीतनेवाला है।

महावीर ने जो आज्ञा दी है – 'सत्यग्राही' बनने की – वह बाबा को पूर्ण मान्य है। आज जहाँ-तहाँ जो उठा, वह सत्याग्रही होता है। बाबा को भी व्यक्तिगत सत्याग्रही के नाते गांधीजी ने पेश किया; लेकिन बाबा जानता था वह कौन है, वह सत्याग्रही नहीं, सत्यग्राही है। हर मानव के पास सत्य का अंश होता है, इसलिए मानव-जन्म सार्थक होता है। तो सब धर्मों में, सब पंथों में, सब मानवों में सत्य का जो अंश है, उसे ग्रहण करना चाहिए। हमें सत्यग्राही बनना चाहिए। यह जो शिक्षा है महावीर की, बाबा पर गीता के बाद, उसी का असर है। गीता के बाद कहा, लेकिन जब देखता हूँ तो मुझे दोनों में फर्क ही नहीं दीखता है।

अपरिग्रह : सिद्धान्त और वस्तुस्थिति

'अत्यन्त अपरिग्रह' जैनधर्म की बहुत बड़ी विशेषता है, ऐसा मैं मानता हूँ। पर यह सिद्धान्त उनके अमल में आता हुआ दिखाई नहीं देता। इस विषय में आचार्य तुलसी ने गृहस्थों के लिए 'अणुव्रत' बताये हैं। गृहस्थों के लिए परिग्रह की मर्यादा (परिमाण) मानी गयी है। यह मर्यादा कैसी और कितनी हो, इस विषय में आचार्य तुलसी ने कुछ बताया है। उन मर्यादाओं का पालन भी अगर जैन समाज करे तो उनकी बहुत उन्नति होगी।

पावापुरी तीर्थंकर महावीर स्वामी की देहसमाप्ति (निर्वाण) की भूमि है। ऐसे स्थानों पर स्वाभाविक ही मन अन्तर्मुख होता है, शुभ भावनाएँ उमड़ आती हैं। वहाँ एक मन्दिर में महावीर स्वामी की दिगम्बर मूर्ति है। पदयात्रा के दौरान हमें वहाँ ले जाया गया। वहाँ हमें जेल की याद आ गयी। लोहे का फाटक खोलकर अन्दर एक दालान। फिर लोहे का दूसरा दरवाजा खोला तो फिर एक दालान। ऐसा करते-करते अन्त में कमरे का दरवाजा खोलकर नग्नमूर्ति का दर्शन करवाया गया। पहरेदार बन्दूक लिये खड़े थे जो सारे जगत् में दिगम्बर विहार किया, शीतादि से रक्षा के लिए वस्त्र धारण करना भी उचित नहीं माना, ऐसे महापुरुष के दर्शन के लिए। उसे इस प्रकार पहरे में क्यों रखा गया? क्योंकि वहाँ बहुत सारा सुवर्णमय श्रृंगार था। महावीर स्वामी सुवर्ण का परिग्रह पसन्द नहीं करते थे। उनके शिष्य (अनुयायी) उनकी करुणा के तो कायल थे, परन्तु स्वर्ण की प्रतिष्ठा भी छोड़ नहीं सकते थे। वहाँ हम ज्यादा देर खड़े नहीं रह सके। अत्यन्त खिन्न मन से लौट गये।

स्त्री को आध्यात्मिक अधिकार

महावीर स्वामी के संघ में स्त्री-पुरुष का भेद नहीं किया जाता था। पुरुषों को जितने आध्यात्मिक अधिकार महावीर-सम्प्रदाय ने दिये थे, वे सब बिना भेदभाव के स्त्रियों को भी प्रदान किये गये थे। स्त्रियों और पुरुषों को समान अधिकार है, इसे वे अक्षरशः सत्य मानते

थे। संन्यास, ब्रह्मचर्य और मोक्ष का अधिकार स्त्री-पुरुष दोनों को है। इसलिए महावीर के सम्प्रदाय में जितने श्रमण थे, उससे कहीं अधिक श्रमणियाँ थीं और वे निरन्तर विहार करती रहती थीं। आज भी भारत की शक्ति बनाने में जैन-साध्वियाँ बहुत काम करती हैं। यह उनका महान् उपकार है।

भगवान् बुद्ध प्रारम्भ में स्त्रियों को दीक्षा नहीं देते थे। एक बार उनके शिष्य आनंद एक स्त्री को दीक्षा के लिए लेकर आये। भगवान् बुद्ध ने उस स्त्री को दीक्षा देना स्वीकार किया। फिर भी उन्होंने आनंद से कहा – 'आनंद मैं एक खतरा उठा रहा हूँ।' महावीर स्वामी बुद्ध भगवान् से ३०-४० वर्ष पूर्व हुए। वे इतने निर्भय थे कि उनसे अधिक निर्भय व्यक्ति शायद ही कोई हो। स्त्रियों को दीक्षा देने में बुद्ध को जो भय था, वह महावीर स्वामी को नहीं था।

रामकृष्ण परमहंस के सम्प्रदाय में उनकी पत्नी शारदादेवी ही एकमात्र स्त्री थीं। वास्तव में वे मातृस्थान में थीं। उनके सिवा और किसी को दीक्षा नहीं दी गयी। महावीर के बाद ढाई हजार वर्ष बीत गये, तो भी स्त्रियों को दीक्षा देने की हिम्मत हुई नहीं। इससे ध्यान में आता है कि महावीर ने कितना प्रचण्ड पराक्रम किया था।

महावीर की ऐसी प्रशंसा मैंने कई बार की है। इस सिलसिले में एक बार एक जैन भाई ने मुझे पत्र लिखा कि जैनों में दो पंथ हैं। एक पंथ बहनों को सब अधिकार देता है। लेकिन दूसरा पंथ मानता है कि बहनों को इस जन्म में (स्त्री-पर्याय में) मुक्ति का अधिकार नहीं है। अगला जन्म उन्हें पुरुषों का लेना होगा और तभी उन्हें मुक्ति मिल सकेगी। भारतीय विचार में यह एक बहुत बड़ा दोष रह गया है।

विचार-प्रचार की पद्धति

विचार-प्रचार की दो पद्धतियाँ हैं – सालम्बन और निरालम्बन। भगवान् बुद्ध ने अहिंसा के प्रचार के लिए यज्ञ-बलि-निषेध का आलम्बन लिया। महावीर स्वामी ने विचार-प्रचार के लिए कोई आलम्बन नहीं लिया। वे केवल शुद्ध अहिंसा का उपदेश देते रहे और इसके लिए निरन्तर तप करते रहे और उसी में सन्तुष्ट रहे। महावीर की करुणा निर्गुण थी। मेरा मानसिक सुझाव महावीर की पद्धति की तरफ ज्यादा है। परन्तु अभी मेरा भूदान का जो काम चल रहा है, वह भगवान् बुद्ध के तरीके से चल रहा है। महावीर का तरीका यह था कि वे लोगों से बात करते थे, तो कोई मसला हाथ में है, कोई विचार फैलाना है, ऐसी उनकी दृष्टि नहीं थी। वे जहाँ भी लोगों से बात करते तो, सामनेवाले का विचार समझ लेने और उसके जीवन में समाधान हो, ऐसी राह उसे दिखाते थे। जिसकी जैसी श्रद्धा, उसी के अनुसार उसे समझा देते।

कोई आलम्बन लिया जाय या न लिया जाय, यह अलग बात है। परन्तु लिये गये आलम्बन का अर्थ स्थूल हो जाय और जिस सूक्ष्म वस्तु के प्रकाश के लिए वह हो, वही गौण हो जाये – बाह्य आकार ही मुख्य हो जाये, आलम्बन ही बलवान हो जाये और जिस विचार के लिए वह लिया था वह विचार छिप जाये – तो खतरा पैदा हो जाता है। आलम्बन न लेने से विचार बिखर जाता है। आम जनता में उसका कोई आकर्षण नहीं रह जाता। इस तरह आलम्बन लेने में एक खतरा है तो आलम्बन न लेने में दूसरा खतरा है – लेने में एक गुण है और न लेने में दूसरा गुण है।

जैन-धर्म की प्राचीनता

महावीर स्वामी जैनों के अन्तिम यानी २४वें तीर्थंकर माने जाते हैं। उनके हजारों वर्ष पूर्व जैन-विचार का जन्म हुआ था। ब्राह्मण और श्रमण संस्कृति प्राचीन जमाने से चलती आयी है, ऐसा लगता है। ऋग्वेद में **मुनयो वात रशनाः** शब्दों में दिगम्बर मुनियों का वर्णन

है। मैं तो समझता हूँ कि जितना हिन्दू-धर्म प्राचीन है, शायद उतना ही प्राचीन जैन धर्म है। लेकिन प्राचीन होना ही बड़ी बात नहीं है, वास्तव में कीमत सही विचार की है।

ॐ नमः सिद्धम्

मेरी मान्यता है कि एक जमाने में विद्यार्थी हिन्दू थे और शिक्षक जैन थे। जैन पढ़े-लिखे थे और भारत में शिक्षा का काम उनके हाथ में था। महाराष्ट्र में बच्चों को वर्णमाला सिखाने के आरम्भ में 'श्री गणेशाय नमः' और 'ॐ नामः सिद्धम्' सिखाया जाता है। यह एक सबूत है। लेकिन सारे भारत में जो दर्शन हुआ, उस पर से मैंने माना है कि पुराने समय में जैनों के हाथ में शिक्षा थी।

हिन्दू-धर्म के सुधारक

विचार की दृष्टि से जैन अपनी कुछ भिन्नता भले ही रखते हों, किन्तु हिन्दू-धर्म का जो व्यापक प्रवाह अनादिकाल से यहाँ चला आ रहा है, उससे न तो वे अछूते हैं और न भिन्न ही। जैन तो किसी भी दृष्टि से हिन्दू-धर्म से अलग नहीं हैं। वे हिन्दू-धर्म के सुधारक हैं।

जैन शब्द का अर्थ है 'जीतनेवाला।' जो दुनिया को जीतना चाहता है, वह इतना नम्र होता है कि अपनी स्वतंत्र हस्ती ही नहीं रखना चाहता। वह सब में घुलमिल जाना चाहता है। महावीर स्वामी जिसकी जो श्रद्धा हो, उसी का उपयोग करके उसे वे आत्मा का निर्लिप्त (शुद्ध) स्वरूप समझाते थे। इसी कारण हिन्दुस्तान में जैन-विचार बढ़ा और अब तक टिका है। पंथ बनाने की वृत्ति से वह संकुचित दायरे में ही रह जायेगा। एक परिशुद्ध विचार के तौर पर वह रहेगा तो सारी दुनिया में उसका प्रचार होगा। अगर जैन-विचार दुनिया में इतना फैल जाये कि उसके कारण जैन शब्द मिट जाये तो मिटकर वह सार्थक होगा।

हिन्दुत्व एक आम-धर्म है, जैनत्व उसका एक सार-विशेष है। मैं यह तो जरूर कह सकता हूँ कि हर लक्षाधीश सहस्त्राधीश है, पर यह कैसे कह सकता हूँ कि हरएक

सहस्राधीश भी लक्षाधीश हैं? इसलिए सारे हिन्दू जैन हैं, यह नहीं। प्राणी-पीड़ा-वर्जन ही जैन धर्म की विशेष दीक्षा है, जिसके कारण सारे जैन मांसाहार-मुक्त हैं। यह दीक्षा किसी समय सम्पूर्ण हिन्दू समाज ले सका तो सारे हिन्दुओं को जैन कह सकते हैं। मैं चाहूँगा कि वैसा समय जरूर आये और हमारे पुरुषार्थ से हम वह लायें।

लेकिन किसी को हिन्दू कहने से अगर सदमा पहुँचता है, तो मेरा ऐसा कोई आग्रह नहीं है कि मैं उसे हिन्दू नाम से ही पुकारता रहूँ। अपने विषय में मैं इतना कह सकता हूँ कि मुझे कोई जैन नाम से भी पहचानना चाहे तो मुझे आनन्द ही होगा, बशर्ते उसमें हिन्दुत्व का निषेध न होता हो और मैं जानता हूँ कि नहीं होता है।

•

६. सिक्ख-धर्म

गुरु नानक

भारत में दो परम्पराएँ हैं – १. सन्त-परम्परा, २. भक्त-परम्परा। कबीर, नानक, दादू आदि सन्त-परम्परा में हैं। सूरदास, तुलसीदास, मीराबाई आदि भक्त-परम्परा में हैं।

मेरे मन में गुरु नानक के प्रति कितना आदर है, इसे मैं शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता। उन्होंने मानवीय विचारों को एक नयी प्रेरणा दी है।

गुरु नानक के शब्द मुझे खूब स्फूर्ति देते हैं।

गुरु नानक कामरूप (असम) से लेकर मक्का तक और श्रीनगर से लेकर श्रीलंका तक घूमे। लोगों को बहुत उत्साह के साथ सद्विचार समझाते थे। वे मक्का भी गये थे। वहाँ वे एक स्थान पर लेटे थे। उनके पैर मस्जिद की तरफ थे। लोगों ने इसकी शिकायत की, तो नानकजी ने कहा कि आप मेरे पैर उस ओर हटा दीजिये, जिस तरफ ईश्वर न हो। मैं अपने पाँव उधर रख लूँगा। लोग उनके पाँव दूसरी ओर रखने लगे, लेकिन जिधर भी वे पाँव रखते उधर ही मस्जिद आ जाती। तब मक्कावालों के ध्यान में आया कि यह सन्त भारत से आया है। इसको जो ज्ञान है, वह अभी हम लोगों को नहीं है। फिर तो उन्होंने नानकजी का बहुत सम्मान किया।

बाबा नानक यात्रा करते-करते पुरी पहुँचे। उन्हें मन्दिर में प्रवेश मिला नहीं। तब नानकजी ने मन्दिर के बाहर मुक्त आकाश के नीचे खड़े रहकर भगवान् की आरती गाना आरम्भ किया। यह आरती सिखों में रोज बोली जाती है। – **गगन मे थाल रविचन्द दीपक बने, तारका मण्डल कनक मोती**। जगन्नाथपुरी के लोगों को विश्वरूप भगवान् का ज्ञान

देकर वे मक्का पहुँचे। वहाँ भी मुसलमानों को सर्वव्यापक भगवान् की दीक्षा उन्होंने दी थी। इस तरह मक्का से लेकर जगन्नाथपुरी तक अपना विचार-प्रचार करते हुए वे घूमे थे।

अन्य प्रान्तों में भी सन्तवाणी प्रकट हुई है, लेकिन उसका उतना असर नहीं हुआ, जितना कि गुरुवाणी का हुआ है। सचमुच गुरुओं ने एक चमत्कार ही कर दिया है। दूसरे प्रान्तों में पुरुषों के सत्संग चलते हैं, किन्तु पंजाब में स्त्रियों के भी सत्संग चलते हैं। गुरुओं ने स्त्रियों को परमार्थ-मार्ग में इस प्रकार प्रवेश करा दिया है कि उनकी एक जमात बन गयी है। स्त्रियों में सामूहिक उपासना का होना बहुत बड़ी (श्रेष्ठ) बात है।

सिक्खों के सब गुरुओं ने पद्य लिखे हैं। लेकिन सबने अन्त में 'नानक' का नाम लिखा है। यह अच्छी बात है और दूसरी अच्छी बात यह है कि बहुत सारे गुरु होते हैं तो उनका आपस में मतभेद खड़ा हो जाता है, इसलिए दस गुरु बस हैं। पहले गुरु नानक और दसवें (अन्तिम) गुरु गोविन्द सिंह। उनके पश्चात् ग्रंथ को ही गुरु समझो।

जपुजी : धर्म का सार

जपुजी में धर्म का निचोड़ (सार) रखा गया है। गुरु नानक ने अपनी अन्तिम आयु में सारी यात्रा खतम करने के बाद, यह लिखा है। मुझे यह बहुत भाया (रुचा) है। सन् १९४० में व्यक्तिगत सत्याग्रह में जब मैं जेल में था, तब मैंने 'जपुजी' पहली बार पढ़ा। उस समय मैं, नामदेव के मराठी भजनों का संकलन कर रहा था। उनके कुछ हिन्दी भजन 'ग्रंथसाहब' में भी हैं। इसीलिए मैंने 'ग्रंथसाहब' मँगवाया और नामदेव के लिए पूरा पढ़ लिया। सिक्खों की उपासना का अध्ययन और अनुभव प्राप्त करने के लिए महीनों तक रोज सुबह प्रार्थना में जपुजी का पाठ करता रहा। उस समय मुझे उसका उतना अर्थ मालूम नहीं था और मेरे पास अर्थ जानने के साधन भी उपलब्ध नहीं थे। इसमें कुछ ऐसे शब्द हैं, जिनका अर्थ एकदम से ध्यान में नहीं आता।

पंजाब की पदयात्रा में वहाँ की जनता से सम्पर्क करना था, इसलिए मैंने दुबारा जपुजी का अध्ययन शुरू किया। इसका मुझपर बहुत गहरा असर हुआ। नानक के साथ मेरा हृदय का परिचय हो गया। रात में सपने में भी गुरु नानक के वचन याद आते थे। चिन्तन से उन वचनों का गहरा अर्थ-ज्ञान होता है। इसका जितना चिन्तन करो, उतना अधिक मिलता जाता है।

'जपुजी' सूत्रात्मक ग्रंथ है। ३८ पौडियाँ, आरम्भ का मूल मंत्र और अन्तिम श्लोक मिलाकर, बिलकुल थोड़े में, धर्म का सारा सार रख दिया है। सिर्फ श्रद्धा की बात नहीं की गयी है, काफी व्यापक दृष्टि से सोचा गया है। ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग, साधना आदि सब-कुछ उसमें है। तत्त्वज्ञान, नीति-विचार, सबका सार है।

जपुजी केवल सिखों के लिए नहीं है, सम्पूर्ण विश्व के लिए है। गुरु नानक को किसी भी एक सम्प्रदाय में ही बाँध लेना ठीक नहीं है।

नानक की सिखावन

सिक्खों का मूलमंत्र ओंकार से शुरू होता है। ओंकार एक नादात्मक चिह्न है, नादरूप ध्वनि है। ऐसे शब्दों से चिन्तन में मदद मिलती है। ओंकार वेद-सार माना गया है। उपनिषद् और गीता ने उसका उपयोग किया है। गुरु नानक ने भी इसी का पुनरुच्चार करके अपनी परम्परा कायम रखी है। है। जब कोई नया विचार पुराने को तोड़कर आता है, तब वह फलता नहीं है। पुराने का आधार लेकर जो नया विचार आगे आता है, उसमें नये का स्वाद और पुराने की शक्ति, दोनों रहते हैं। प्रभु ईसा ने कहा है – **आय हैव नॉट कम टु डिस्ट्रॉय, बट टु फुलफिल** – मैं पुराने को तोड़ने नहीं, बल्कि उसमें नया जोड़ने, पूर्ति करने आया हूँ। इसलाम धर्म में भी कहा है कि 'मैं तसदीक (पुष्टि) करने आया हूँ।' गुरु नानक ने यही किया है। इससे शक्ति निर्माण होती है।

बिसर गयी सब तात पराई, जब ते साधु-संगत मोहिं पाई।
ना को बैरी नाहि बिगाना, सकल संगि हमकौ बनि आई ।।
जो प्रभु कीन्हो सो भल मान्यो, एह सुमति साधुन तें पाई।
सब महं रम रहिआ प्रभु एकै, पेखि-पेखि नानक बिगसाई।।

यह भजन सर्वोदय का मूल-मंत्र है। 'ना को बैरी नाहि बिगाना' ही सर्वोदय का सन्देश है। हम कोई भेद नहीं मानते। सब मिलकर एक ही जमात है, परमेश्वर एक है, उसकी भक्ति करनी चाहिए, हरि-नाम जपना चाहिए, सत्संग करना चाहिए, बाँटकर खाना चाहिए – ये सब बातें गुरुवाणी में हैं।

आज पंजाब में एक नानक का ही नाम चलता है। इतने सारे राजा आये और गये; लेकिन किसी का भी नाम लोगों को याद नहीं। ऐसा क्यों हुआ? इसीलिए कि नानक ने पहचाना – ना को बैरी, नाहि बिगाना। सकल संगि हमको बनि आई – अब न कोई बैरी है, न कोई सगा। सभी हमारे दोस्त, साथी हैं। सबके साथ हमारी बनती है। पराक्रम को, वीरता को क्रूरता में परिणत न होने देना और उसको महावीरता में परिणत होने के लिए अवकाश रखना चाहिए। महावीरता के और अहिंसा के अभिमुख सिक्खों को रखकर क्षात्र-पराक्रम को उचित दिशा में ले जाने का बहुत बड़ा काम नानकदेव ने किया है।

गुरुनानक के दो शब्द बड़े शानदार हैं – **निरभऊ** और **निरवैरु**। जो निर्वैर नहीं, वह निर्भय नहीं। इस मंत्र का अर्थ है – निर्भय यानी हम किसीसे डरते नहीं, और निर्वैर यानी हम किसीको डराते भी नहीं। ये दो गुण हममें होने चाहिए, यह नानकजी ने कहा है। किन्तु आज ये भी पर्याप्त नहीं हैं। नानक के काल में पार्टी-पॉलिटिक्स नहीं था। आज पार्टी-पॉलिटिक्स बहुत चलता है। इसलिए निर्भय और निर्वैर होने के बाद निष्पक्ष रहना कठिन नहीं है। लेकिन यह जोड़ना जरूरी है।

'**नानक हुकमै जे बुझै न हउमै कहै न कोई**' – नानक कहते हैं, जिसने परमेश्वर की आज्ञा पहचान ली, वह 'मैं-मेरा', 'तू-तेरा' नहीं करता, वह तो समझता है कि हम सब ईश्वर के हाथ में कठपुतलियाँ हैं। इसलिए सब-कुछ उसी पर छोड़ (सौंप) देना चाहिए। इसलाम ने यही कहा है। इसलाम का अर्थ है – **सब कुछ ईश्वर को अर्पित कर देना**। यही बात ईसा ने कही थी – **लेट दाय विल बी डन, नॉट माइन**।' गीता में भी यही कहा गया है – **सारे धर्म तजकर एक मेरी शरण में आ जा**।

पांथिकता का निषेध

गुरु नानक के जीवन और चिन्तन पर जितना असर वैष्णव-धर्म का हुआ, उतना ही कुरान का भी हुआ। नानक ने तो जपुजी में कुरान का उल्लेख भी किया है। गुरु ग्रंथसाहब में ऐसे विचार जगह-जगह मिलते हैं कि 'चाहे वेद हो या कुरान, जो सार है, वह है भगवान् का नाम और उसे हमने ले लिया है।'

'**मंनै मगु न चलै पंथु। मंनै धरम सेती सनबंधु** ।' – नानक कहते हैं कि मनन करने से मनुष्य पंथों की राह पर नहीं चलेगा। वह स्वयं ही धर्म-तत्त्व समझ जायेगा। क्योंकि मनन करने से धर्म के साथ सहज नाता जुड़ जाता है। जगत् में जो अनेक पंथ हैं, उनमें पड़ने की मनुष्य को जरूरत नहीं है। लेकिन पड़ती हैं और लोग उन पंथों में बह जाते हैं। नानक ने यहाँ पंथों का निषेध किया है। वेदान्त में भी यही दिखाई देता है – '**पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ**।' जीवन का आधार शाश्वत धर्म-तत्त्व पर है, जहाँ सब पंथ विसर्जित हो जाते हैं।

गुरु नानक ने कहा था – 'हम रामनाम के सिवा किसी भी पंथ से नाता नहीं जोड़ते।' हम किसी सुन्दर पंथ से जुड़ते हैं तो भी धीरे-धीरे सीमित बनते जाते हैं। फिर एक ऐसा समय आ जाता है, जब दाढ़ी-चोटी जैसी छोटी-छोटी चीजों को महत्त्व मिल जाता है और असली चीज गायब हो जाती है। इसीलिए मन में मनन करनेवाले का सीधा सम्बन्ध धर्म से

जुड़ता है। उनकी इतनी स्पष्ट घोषणा के बावजूद गुरु नानक के शिष्य बने और एक पंथ बन गया। तब उन्होंने शिष्यों से भी कहा कि पंथों के छोटे-छोटे आग्रह मत रखो। हमारा विश्वास है कि अगर हम उनके वचनों का मनन करेंगे तो ये छोटे-छोटे झगड़े मिट जायेंगे। उन्होंने कहा है – '**आवी पंथी सकल जमाति**' – जगत् में जितने लोग हैं, वे सब एक जमात के हैं। यह पूरी तरह सर्वोदय की भाषा है। इसलाम ने भी कहा है – '**उम्म तुम् वाहिद**' – तुम सब एक जमात के हो।

सुधारक पंथ

सिक्ख-धर्म में शास्त्रीय हिन्दू-धर्म से अलग कुछ नहीं है। परन्तु लौकिक हिन्दू-धर्म अनेक परस्पर विरोधी उपासनाओं से अव्यवस्थित-सा हो गया था। इस कारण उससे भिन्न दिखाई देता है। अर्थात् वह हिन्दू-धर्म का एक सुधारक पंथ है।

वैसे तो सुधारक को दोनों ओर से मार खानी पड़ती है। लेकिन सगुण-निर्गुण का विरोध मिटाने की कला भक्ति-मार्ग को सधी होने से सिक्ख और हिन्दुओं में वैमनस्य नहीं आया। लेकिन कट्टर मुसलमानों को सत्ता का साथ मिलने से सिक्खों को उन्होंने खूब सताया। इसलिए मूलतः समन्वयवादी निर्गुण सिक्ख-पंथ आगे जाकर प्रतिकारवादी और शक्ति-उपासक बन गया।

औरंगजेब के रवैये से हिन्दुओं और सिक्खों को बहुत तकलीफ हुई। इसीलिए औरंगजेब का विरोध करने के लिए इधर गुरु गोविन्दसिंह अग्रसर हुए और उधर हुए शिवाजी महाराज ! उन दोनों ने औरंगजेब का मुकाबला किया। लेकिन कभी भी मुसलमानों से द्वेष नहीं किया। उन्होंने मुसलमानों की कद्र की। उनका झगड़ा इसलाम से नहीं था, मुसलमानों से भी नहीं था। औरंगजेब के जुल्मों के खिलाफ उन्हें उठना पड़ा। वे द्वेष करनेवाले नहीं थे, प्रेम उनका धर्म था।

गुरुवाणी सिखायी जाय

एक मजहब (धर्म) को दूसरे से श्रेष्ठ बताना, किसी एक की निन्दा करना या देवी-देवताओं की पूजा सिखाना आदि बातें धर्म-निरपेक्ष शिक्षा में नहीं आतीं। गुरुवाणी में तो सब सर्वोदय की ही बातें हैं। सन्तों की राह पर चलो, दान दो, दया से वरतो, बाँटकर खाओ आदि नीति-विचार हैं और वह धर्म-निरपेक्ष राज्य के खिलाफ नहीं है।

राजकारण का परिणाम

लेकिन आज हम गुरु नानक की वाणी के अनुसार आचरण करते हैं क्या? आज का सिक्ख-धर्म देखकर बड़ा आश्चर्य होता है। जिस धर्म का प्रादुर्भाव केवल एकता का निर्माण करने के लिए हुआ, उसी धर्म में एकता का नितान्त अभाव है ! उसीमें फूट !! यह सब पालिटिक्स (राजनीति) का प्रभाव है।

शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक समिति के चुनाव होते हैं। गुरु के स्थान पर राजनीति आने से धर्म के टुकड़े होते हैं। एक तरफ ४५ और दूसरी तरफ ५५ होंगे तो ५५ लोगों का पक्ष (दल) जीतेगा। किन्तु उसके जीतने से भी सिक्ख-धर्म की तो हार ही होगी। सबमें मेल साधने के लिए सिक्ख-धर्म का निर्माण हुआ, उसका ४५-५५ के दो भागों में विभक्त हो जाना, क्या उस धर्म को शोभा देता है?

इसीलिए मैं सिक्ख भाइयों से प्रेमपूर्वक कहना चाहता हूँ कि वे गुरुद्वारों का मोह छोड़कर गुरु की सिखावन के अनुसार चलने की शपथ लें, अर्थात् सारे झगड़े अपने आप मिट जायेंगे। नहीं तो धर्म की प्रतिष्ठा के लिए सिक्खों की जमात खड़ी हुई, वह धर्म अपना तेज प्रकट नहीं कर सकेगा।

•

७. पारसी-धर्म

पारसी लोग, लगभग तेरह सौ वर्ष पूर्व आश्रय के लिए हिन्दभूमि के किनारे आये। यह एक बहुत छोटा समाज है। इनकी जनसंख्या एकाध लाख के लगभग होगी। पारसियों का एक स्वतंत्र धर्म है। इस धर्म का संस्थापक लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व ईरान में पैदा हुआ था। मानव-सेवा में लगा यह मनुष्यों द्वारा ही मारा गया।

पारसियों का मूल धर्म-ग्रंथ 'अवेस्ता' है। उसकी भाषा वैदिक भाषा से मिलती-जुलती है। वेद के अनेक देवता 'अवेस्ता' में भी हैं। वेदों के बहुत सारे शब्द, उच्चारण के कुछ अन्तर से अवेस्ता में उपलब्ध हैं। कुछ शब्दों के अर्थों में उलट-फेर भी हुआ है, जैसा कि मराठी में 'अपरोक्ष' शब्द की दशा है। संस्कृत में अपरोक्ष का अर्थ है समक्ष (प्रत्यक्ष) और मराठी में अपरोक्ष यानी पीठ के पीछे। यही बात 'देव' और 'असुर' शब्दों के विषय में पारसियों तथा हिन्दुओं की भाषाओं में हुई है। पारसी ईश्वर को असुर कहते हैं और उसका उच्चारण अहुर करते हैं। महान् अर्थ का 'मज्द' विशेषण लगाकर वे परमेश्वर को 'अहुर-मज्द' कहते हैं। इसी का अपभ्रंश 'होरमज्द' है। और देव का अर्थ उनकी भाषा में परमेश्वर-विरोधी दुष्ट मनोवृत्ति। वेदान्त ने भी ईश्वर को 'असुर' संज्ञा लगायी है, पर सामान्य संस्कृत में ऐसा नहीं है। पारसी भारत में आये आश्रय माँगने के लिए। लेकिन उन्होंने देवों की निन्दा और असुरों की भक्ति कायम रखी और शब्दों को न देखकर भाव ध्यान में रखकर तत्कालीन समंजस हिन्दुओं ने कोई आपत्ति नहीं की।

हिन्दुओं की गायत्री की तरह पारसियों का अहुन-वैर्य है। मैंने उसका पद्यमय भाषान्तर किया है। कुरान के फातिहा का भाषान्तर इसी तरह मैंने पहले किया था। वह हमें हमारे धर्म के वचन जैसा ही लगता है। अहुन-वैर्य की भी यही बात है। सचमुच, भिन्न-भिन्न

धर्मों में उपासना की बाह्य पद्धतियों के अलावा और कोई फर्क नहीं है। जैसा कि तुकाराम कहते हैं '**सर्वधर्म हरी चे पाय**' – सभी धर्म प्रभु के चरण ही सत्य है।

अहुन-वैर्य

१. जैसा वरणीय प्रभु, वैसा ही सत्य गुरु।

२. सु-मन की वह देन, जो जग में करता है देव-कार्य।

३. उस दैवीशक्ति का वरण करके दीनों की सहायता करता है।

•

८. 'सेक्युलर राज्य' का अर्थ

'धर्म' शब्द इतना विशाल और व्यापक है कि उसके सारे अर्थ बतानेवाला शब्द मैंने अब तक किसी भाषा में देखा नहीं। सारे अर्थ तो जाने दीजिये, उसके बहुत-से अर्थवाला भी कोई शब्द मैंने नहीं पाया। इसलिए जो लोग सरकार को धर्म-विहीन कहते हैं, वे तो मानो गाली देते हैं। और जो धर्मातीत या धर्म से बाहर है वह सिवा अधर्म के और क्या हो सकता है? बल्कि हम इतना भी कहें कि सरकार 'सेक्युलर' यानी 'धर्म से असम्बद्ध' हैं, तो भी अर्थ ठीक नहीं हो पाता। अतः अपनी सरकार को धर्म से असम्बद्ध, उससे विहीन बताना एक निरा भ्रम-प्रचार ही होगा। ऐसा भ्रम-प्रचार काफी हुआ है और कुछ जाननेवाले अच्छे लोगों ने भी इस प्रकार की टीका की है।

'सेक्युलर' शब्द का अनुवाद अपनी भाषा में हम किस तरह करें, यह व्यर्थ का सवाल हमारे सामने पेश हुआ है। 'सेक्युलर' का अर्थ अगर हम पंथातीत या अपांथिक करें, तो भी ठीक अर्थ प्रकट नहीं होता। 'पंथ' यानी मार्ग, जिसे अंग्रेजी में 'पाथ' कहते हैं। तो 'पंथातीत' यानी 'मार्गविहीन' सरकार हुई। किन्तु वह शब्द तो 'गुमराह' का पर्याय है। इसके लिए 'अपांथिक' शब्द भी नहीं चल सकता।

इसलिए 'सेक्युलर' शब्द के अर्थ के लिए मैंने 'वेदान्ती' शब्द चुन लिया। हमारी सरकार 'वैदिक' नहीं होगी, बल्कि 'वेदान्ती' होगी। वेदान्त में किसी उपासना का निषेध नहीं है। जितनी उपासनाएँ हैं, सबको वेद समान भाव से देखते हैं। फिर वेदान्त ने अपनी निज की कोई उपासना नहीं रखी। इसलिए अगर हम 'वेदान्ती-सरकार' कहें, तो कुछ अच्छा अर्थ प्रकट होता है। यह मैं जाहिरा तौर पर नहीं कहूँगा, केवल समझाने के लिए मैंने इस शब्द का प्रयोग किया है। हमारी सरकार नास्तिक नहीं है, फिर भी वेदान्त जितनी गहराई में वह नहीं जा सकती। अब अगर हम एक शब्द में 'सेक्युलर' का तर्जुमा नहीं कर

सकते और भाव तो प्रकट करना ही है, तो 'निष्पक्ष न्यायनिष्ठ-व्यावहारिक सरकार' कह सकते हैं। एक ही किन्तु कठिन संस्कृत शब्द में कहना हो तो 'लोक-यात्रिक' सरकार कह सकते हैं। यानी वह सरकार जो लोक-यात्रा के बल पर जनता को चलाना चाहती है। शब्द कठिन अवश्य हैं, लेकिन उससे कठिनाई कुछ दूर हो सकती है।

यदि हम अपनी भाषा में विचार करें तो आज जो गलतफहमियाँ या भ्रम उत्पन्न हुए हैं और जिनके कारण कठिनाइयाँ पैदा हो गयी हैं, वे टल सकती थीं। सेक्युलर शब्द के कारण बड़े-बड़े लोगों में गैर-समझ है। किसी विद्यालय में यदि वैदिक प्रार्थना हो रही हो तो पूछा जाता है कि सेक्युलर स्टेट में सरकार वैदिक मंत्र कैसे सिखा सकती है? मैं अलीगढ़ विश्वविद्यालय में गया था। वहाँ कार्यक्रम के प्रारम्भ में कुरान की आयत पढ़ने का रिवाज है। यदि कोई सेक्युलर स्टेट के विद्यापीठ में यह पूछ बैठे कि यहाँ कुरान की आयतें क्यों बोली या पढ़ी जाती हैं, तो यह गलत है। एक देशी शब्द के कारण यह सारी गैर-समझ हो रही है।

सेक्युलर राज्य यानी अ-साम्प्रदायिक राज्य, अर्थात् किसी भी एक सम्प्रदाय से न जुड़ा हुआ राज्य। किसी भी राज्य-मान्य धर्म से रहित राज्य। सब धर्मों को जहाँ पूरी स्वतंत्रता है, ऐसा राज्य। यही 'सेक्युलर' शब्द का अर्थ है।

•

९. सौहार्द तथा समन्वय की दिशा में

'हिन्दू मानस'

एक भाई ने पूछा कि हममें से अधिकांश साथियों का 'हिन्दू माइण्ड' होता है, इस आक्षेप के बारे में आप क्या कहना चाहते हैं?

अब यह 'हिन्दू माइण्ड' अधिकांश का है या चन्द लोगों का, यह कहना मेरे लिए मुश्किल है। लेकिन पहले मैं अपनी बात कहूँ – मेरा 'हिन्दू माइण्ड' अवश्य है। लेकिन अगर मुझसे पूछा जाये कि 'हिन्दू माइण्ड' यानी क्या, तो जो व्याख्या मैं दूंगा, उस व्याख्या को आप 'क्रिश्चियन माइण्ड' भी कह सकते हैं और 'मुस्लिम माइण्ड' भी कह सकते हैं। क्योंकि सब धर्मों का सार हिन्दू-धर्म है, ऐसा मैं मानता हूँ। और सब धर्मों का सार इसलाम है, ऐसा मैं मानता हूँ। सब धर्मों का सार एक ही है।

मैं 'भी' वादी हूँ

मेरी यह अनुभूति है कि मैं हिन्दू हूँ, मुसलमान भी हूँ, ईसाई भी हूँ, बौद्ध-यहूदी-पारसी भी हूँ। हरएक के अपने-अपने मिस्टिक एक्सपीरियन्स (गूढ़ अनुभूति) के अनुसार अलग-अलग धर्म बने हैं। हजरत मुहम्मद के मिस्टिक एक्सपीरियन्स को लेकर इसलाम बना, बुद्ध के मिस्टिक एक्सपीरियन्स को लेकर बौद्ध-धर्म बना। ये सारे धर्म सत्य के अंश है। अगर मैं कहता हूँ कि मैं किसी एक धर्म का हूँ तो सत्य के साथ असत्य को भी ग्रहण कर लेता हूँ। और मैं किसी धर्म का नहीं हूँ, कहने से उन धर्मों में जो सत्य का अंश है, उसे भी छोड़ देता हूँ। सत्य का अस्वीकार न हो और असत्य का स्वीकार न हो, इसलिए मैं 'भी' वाली बात कहता हूँ।

चार भूमिकाएँ हो सकती हैं – (१) मैं हिन्दू हूँ, मुसलमान नहीं हूँ। (२) मैं मुसलमान हूँ, हिन्दू नहीं हूँ। (३) मैं हिन्दू भी नहीं हूँ, मुसलमान भी नहीं हूँ। (४) मैं हिन्दू भी हूँ, मुसलमान भी हूँ।

मेरी चौथी भूमिका है। पहली भूमिका में यह हो सकता है कि मैं हिन्दू हूँ और मेरे हिन्दुत्व में सब समा जाता है। लेकिन 'मैं हिन्दू हूँ' कहने से मुसलमान से अलग पड़ जाता हूँ। 'मैं दोनों नहीं हूँ', कहने से मेरा तीसरा पंथ बन जाता है। लेकिन 'मैं हिन्दू भी हूँ और मुसलमान भी हूँ' कहने से हिन्दू और मुसलमान दोनों को एक प्लेटफार्म (मंच) पर ला सकता हूँ। यह तो अपनी-अपनी अनुभूति की बात है।

भारत की अद्भुत परम्परा

विश्व की भिन्न-भिन्न जमातों को अपने में समा लेनेवाला भारत एक अद्भुत देश है। इस देश ने अपने हजारों वर्षों के इतिहास में कभी भी दूसरे देश पर आक्रमण नहीं किया। बल्कि बाहर से आनेवाले शक, हूण, पारसी, मुसलमान, यहूदी, ईसाई आदि सबका स्वागत ही किया। इसीलिए रवीन्द्रनाथ ने भारत को महामानव-सागर कहा है। प्रेम के सिवाय सबको समा लेने की कला घटित नहीं हो सकती। इस भारतभूमि में सबको प्राप्त प्रेम के कारण यह हमारा घर है, ऐसा सबको लगा। कभी-कभी दो जमातें एकत्र होती हैं, तब आपस में कुछ संघर्ष भी होता है, परन्तु अन्त में शुद्ध प्रेम ही कायम रहता है। वह प्रेम ही भारत के विकास का आधार है। भारत में एक मिश्र (मिली-जुली) संस्कृति का निर्माण हुआ है। मुस्लिम, क्रिश्चियन, पारसी, यहूदी, बौद्ध, जैन आदि सभी संस्कृतियों का योगदान स्वीकार करके भारत की संस्कृति सम्पन्न (समृद्ध) हुई है।

संसार के किसी भी भाग से आये हुए अच्छे विचारों को अपने में समाहित कर उसे अपना ही रूप देना, भारत की विशेषता रही है।

परमेश्वर एक ही है, परन्तु उसके नाम अनेक हो सकते हैं और उपासना की पद्धतियाँ भी भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। तब अपने से भिन्न पद्धति अयोग्य न होकर अच्छी ही है; प्रत्येक अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उपासना करे, यह भारतीय संस्कृति का विचार होने से भारत ने विश्व के सभी धर्मों का स्वागत किया है और आगे भी इस भूमि में सारे धर्म एकत्र रहेंगे और अपना-अपना विकास करेंगे।

एक ही स्वर 'सा' रहता तो उसमें से संगीत पैदा नहीं हो सकता था। लेकिन सारे स्वरों का विसंवादी होना भी व्यर्थ है, संवादी होने चाहिए। हिन्दू-मुसलमान, सिक्ख, क्रिश्चियन, जैन, बौद्ध – षट्रस भोजन है। मात्र एक ही रस का भोजन अच्छा और रुचिकर नहीं लगता। विविधता में से संगीत पैदा हो सकता है। यही व्यापक दृष्टि भारत की है। सहजीवन भारत का मूल तत्त्व है।

हम भिन्न-भिन्न धर्मवाले भारत में एक साथ रहते हैं। इतिहास साक्षी है कि हम सब बहुत प्रेम से रहते थे। गाँव-गाँव के लोग एक-दूसरे को भाई-भाई मानते थे। एक-दूसरे के त्यौहारों में शरीक होते थे। पर बीच के काल में हमारे देश में सियासत आ गयी। सियासत टुकड़े करना जानती है। कौम-कौम के बीच आज गलतफहमियाँ हैं। उन्हें बढ़ावा मिलेगा तो भारत का खात्मा समझो। इसलिए हम सब एक हैं। अगर परमेश्वर एक है तो मानव भी एक है। यही एक भावना रखनी चाहिए।

धर्म को सत्ता से न जोड़ें

इन दिनों यह जो एक बात चलती है, हिन्दू या किसी भी धर्म के राज्य की बात, उसे भी हमें अपने दिल से निकाल देना चाहिए। अगर धर्म का भला करना चाहते हैं, तो सत्ता के साथ उसे जोड़ने का विचार न करें। सत्ता के द्वारा धर्म को फैलाने के प्रयोग इतिहास में हुए हैं। लेकिन उससे धर्म की हानि हुई है। धर्म का उद्देश्य ही सत्ता से भिन्न है। धर्म और सत्ता

दोनों का मेल ही नहीं है। जिन्होंने धर्म की खोज में जीवन लगाया, वे सत्ता से अलग, दुनिया के सुख-दुःखों से परे रहकर चिन्तन करते रहे और उस चिन्तन के प्रभाव से धर्म की प्रभा फैली। धर्म-प्रचार के लिए उन्होंने सत्ता की इच्छा नहीं रखी, बल्कि उससे दूर ही रहे। धर्म आत्मा का विषय है, जिसका प्रचार चिन्तन से, ज्ञान से, तपस्या से, अनुभव से ही होता है। इसलिए सभी धर्मवाले धर्म को सत्ता से जोड़ने की बात छोड़ दें। दोनों को जोड़ने से धर्म की और राज्य की, दोनों की हानि होती है। यह भी इतिहास ने देखा है। आज तो दुनिया का सारा विचार-प्रवाह ही इसके विरुद्ध है। समानता हो, एक-सा न्याय मिले, कोई ऊँच-नीच न माना जाये – इस विचार से जो राज्य चलेगा, वही टिकेगा। यदि राज्य टिकाना है, तो उसे धर्म के साथ नहीं जोड़ना चाहिए। अगर धर्म को बढ़ाना है तो उसे राज्य के साथ नहीं जोड़ना चाहिए।

पंजाब में पदयात्रा करते समय मैंने कहा था कि जैसे आप गुरुद्वारा में जूते बाहर छोड़कर जाते हैं, वैसे ही राजनैतिक पार्टी के जूते भी बाहर रखकर धर्म-कार्य करें। कांग्रेस का जूता, अकाली दल का जूता, कम्युनिज्म का जूता, समाजवाद का जूता –आदि तरह-तरह के जूते आप लोग पहनते हैं। इन्हें आप न पहनें, या पहनना ही है तो पहनें, परन्तु गुरुद्वारा के काम के समय उन्हें बाहर खोलकर अन्दर जायें। सर्वसम्मति से मसले हल नहीं होते हैं, तो कभी भी अल्पमत-बहुमत से सवाल हल न करें। जब तक सर्वसम्मति नहीं होती, फैसला न करें। नानक ने यही धर्म सिखाया है।

धर्म-संस्थाओं से मुक्ति

पहले के लोगों ने मन्दिरों के लिए बहुत भूमि दी। भूमि देकर धार्मिक कार्य चलते रहें, ऐसी योजनाएँ भी की थीं। उस समय वह धर्म था। किन्तु अब परिस्थितियाँ बदल गयी हैं। अब मन्दिरों को भूमि देने का मतलब है उन्हें लोगों का शोषण करने का एक साधन

देना। **मेरे विचार में पारमार्थिक संस्थाओं के पास स्थायी पैदावार रहना उचित नहीं, क्योंकि इसके कारण वे धर्मभ्रष्ट होती हैं।**

धर्म-संस्था और शासन-संस्था, ये दोनों संस्थाएँ लोकसेवा की दृष्टि से ही बनायी गयी थीं। उनका उपयोग भी हुआ। परन्तु आज स्थिति यह हो गयी है कि इन दोनों से मुक्त होना समाज के लिए जरूरी है। धर्म से मुक्त होने की बात मैं नहीं कह रहा हूँ। मेरा कहना है कि धर्म-संस्था से मुक्त हो जाना आवश्यक है।

मेरा कहना यह नहीं है कि समाज को धर्म से अलग करना है, धर्म तो चाहिए ही; लेकिन अब ये धर्म-संस्थाएँ नहीं चाहिए। मैं जैसे-जैसे विचार करता हूँ, **मेरा यह विश्वास पक्का होता जाता है कि धर्म-संस्था चाहे किसी भी उद्देश्य से खड़ी की गयी हो, अब उससे समाज को नुकसान ही ज्यादा होगा।**

आज दुनिया की हालत क्या है? चार बड़े धर्म हैं – ईसाई धर्म, इसलाम-धर्म, हिन्दू-धर्म, बौद्ध-धर्म। इनके अलावा दूसरे छोटे-मोटे धर्म भी हैं। इन सभी धर्मवालों ने अपनी-अपनी धर्म-संस्थाएँ बनायी हैं। यूरोप में पोप काम करते हैं और चर्च की बड़ी मजबूत रचना हुई है। जैसे हरएक जिले का जिलाधिकारी होता है, वैसे हर जिले के लिए चर्च का अधिकारी होता है। ऐसी ही रचना इसलाम में भी है। जगह-जगह इनकी मस्जिदें हैं, जहाँ मुल्ला रहते हैं। इनकी ओर से कुछ धर्म-प्रचार और उत्सव वगैरह भी होते हैं। हिन्दुओं में भी मन्दिर और मठ द्वारा यही काम होता है। यही स्थिति बौद्धों की भी है।

ये सभी धर्म, अहिंसा, प्रेम आदि में विश्वास रखनेवाले हैं। फिर भी हम देखते हैं कि दुनिया में शान्ति-स्थापना के काम में इन सभी धर्म-संस्थाओं का कोई उल्लेखनीय योगदान नहीं हो रहा है। एक ईसाई देश दूसरे ईसाई देश पर हमला कर दे तो पोप से कोई पूछता नहीं कि ऐसा करना ठीक है या नहीं। मानकर ही चलते हैं कि पोप का अधिकार अलग है,

हमारा अलग। अपने व्यवहार में धर्म का प्रभाव कोई मान्य नहीं करता। समाज के व्यवहार में धर्म-संस्थाओं का कोई खास प्रभाव दिखायी नहीं पड़ता। बल्कि जो प्रभाव पड़ रहा है, वह अच्छा नहीं है, यही चिन्ता का विषय है।

खासकर श्रद्धावानों पर धर्म-संस्थाओं का बुरा प्रभाव पड़ रहा है। उन्होंने मान लिया है कि धर्म का जो भी कार्य है, उसकी जिम्मेदारी इन धर्म-संस्थाओं के पुरोहितों की है। वे इसीलिए वहाँ नियुक्त किये गये हैं। एक सुन्दर मन्दिर बनवा दिया, उसके लिए जमीन दे दी, पैसा दिया, पूजा-अर्चना की व्यवस्था कर दी, तो हमारा धर्म-कार्य पूरा हो गया। धर्म के लिए हमें भी कुछ करना होता है, यह विचार श्रद्धालुओं ने छोड़ दिया है। जो श्रद्धालु नहीं, वे न तो पुरोहित को पूछते हैं, न ही धर्म को। लेकिन जो श्रद्धालु हैं, उन्होंने धर्म की, धर्म-प्रचार की, आचार की और चिन्तन-मनन की जिम्मेदारी गुरु, पुरोहित, मुल्ला और पादरी पर छोड़ दी है और स्वयं मुक्त हो गये हैं। इससे धर्म को भारी नुकसान पहुँचा है। आशा तो थी कि मन्दिर, मठ, मस्जिद, चर्च वगैरह से धर्म सर्वत्र फैलेगा। मेरा कहना यह नहीं है कि इनके द्वारा कुछ भी काम नहीं हुआ। थोड़ा-बहुत हुआ है, लेकिन बहुत ही कम ! उलटे, इनके द्वारा अधर्म ही ज्यादा फैला है।

धर्म-संस्थाओं की तरह ही हमने धर्म को मन्दिर, मस्जिद, चर्च में कैद कर रखा है। मन्दिर-मस्जिद में गये तो धर्म का आचरण कर लिया। बाजार में और रोज के व्यवहार में धर्म की जरूरत नहीं। वहाँ तो झूठ और अधर्म जैसे चलता हो, वैसे भले ही चलता रहे। धर्म वहाँ कहीं बीच में नहीं आता। **बाजार में धर्म नहीं ले गये, धर्म को बाजार में नहीं आने दिया, तो बाजार का अधर्म मन्दिरों में पहुँच गया। बाजार ही मन्दिरों में घुस गया**। होना तो यह चाहिए था कि धर्म को बाजार में ले जाना था, परन्तु धर्म जा न पाया तो मन्दिरों में से भी धर्म अदृश्य हो गया। बाजार में खुला अधर्म है, तो मन्दिरों में ढका-छुपा अधर्म है। आज ऐसी हालत हो गयी है।

इसलिए धर्म को धर्म-संस्थाओं से, पादरी, पुरोहित, मुल्लाओं के हाथों से, मन्दिर-मस्जिद-चर्च की चहारदीवारों की कैद से अब पूर्णतः मुक्त करना है और सही धर्म-भावना समाज में सर्वत्र फैलानी है।

अंग्रेजी में कहावत है – Nearer the church, farther from God – चर्च के जितने निकट, परमेश्वर से उतने ही दूर। जब पंथ बनता है, तब छोटी-छोटी बातें सामने आती हैं। हम दूसरों से अलग दिखाई दें, यह वृत्ति रहती है। भगवान् और भक्त के बीच खड़े रहनेवाले लोग हमें तारनेवाले नहीं है, डुबानेवाले हैं। इन दलालों को छोड़िये और सीधे धर्म की ओर, परमेश्वर की ओर जाने का प्रयत्न कीजिये।

मान लीजिये, मैंने अपने सोने की जवाबदारी किसी मनुष्य को सौंप दी और इसके लिए उसे वेतन भी दिया। वह दस-दस घण्टे सोता रहा और उसने अपनी जवाबदारी अच्छी तरह निभायी। तब फिर मुझे नींद न आये तो चलेगा? जैसे अपनी नींद मुझे स्वयं ही लेनी चाहिए, मेरा खाना मुझे ही खाना चाहिए, वैसे ही मेरे धर्मकार्य की जवाबदारी मुझ पर ही है।

धर्म की रक्षा कैसे?

धर्म की रक्षा कैसे होगी? इसके लिए तीन बातें करनी होंगी –

(१) धर्म में जो अनावश्यक बातें आ गयी हैं, वे दूर की जायें, और उन अनावश्यक बातों को स्पष्ट रूप में कहा जाये।

(२) भिन्न-भिन्न धर्मवाले सूक्ष्म बातों में एक-दूसरे का विरोध करते हैं और विरोध संघर्ष का रूप ले लेता है। इसके बदले सर्वमान्य नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठापना की जाये और तदनुसार जीने का प्रयत्न हो। सूक्ष्म बातें बाद में हाथ में ली जायें।

(३) धर्म-विचार क्रमानुसार लोगों के समक्ष रखा जाये। ऐसा करने से लोगों में धर्म और श्रद्धा स्थिर होगी और विज्ञान भी प्रगति कर सकेगा।

हमारे धर्म में जो बोझरूप पागल-कल्पनाएँ जमा हो गयी हैं, उन सबको नष्ट कर देना चाहिए। वे भारभूत चमत्कार और वे निष्फल फलश्रुतियाँ। मैं उसे 'निष्फल श्रुति' कहता हूँ। छह महीने जाप किया तो विद्या आयेगी और वर्षभर पढ़ाई की यानी विवाहेच्छुक का विवाह होगा। यह कैसा बाजारू सौदा है? इस तरह धर्म का चूरा बना दिया है इन लोगों ने।

मैं जब कुरान का अभ्यास कर रहा था, तब एक विद्वान् मुसलमान की लिखी हुई कुरान भाष्य की प्रस्तावना पढ़ने के लिए ली, ताकि उसमें कुछ विश्लेषणात्मक पढ़ने को मिलेगा। इस आशा से मैं उसे पढ़ने लगा। परन्तु उस प्रस्तावना में उस व्यक्ति ने क्या लिखा था? अमुक अमुक कुरान का मंत्र है। उसे कागज पर लिखें और उस कागज को जलाकर पानी में घोलकर पीयें तो पेट दर्द दूर हो जाता है। अमुक अमुक मंत्र को इस्तेमाल करें तो सिरदर्द मिट जाता है, आदि आदि। यही सब हिन्दू-धर्म में भी है। अमुक-अमुक मंत्र जपने से अमुक अमुक रोग दूर होता है, आदि आदि। यह सब जब मैं देखता हूँ, तब उस धर्म का कुछ भी अर्थ है क्या? इससे मन दुःखी होता है। धर्म का जो श्रीफल मनुष्य को प्राप्त होनेवाला है, वह चित्तशुद्धि पूर्वक ही प्राप्त होगा।

धर्म के पाँच अंग

धर्म में सामान्यतः पाँच बातें होती हैं – (१) परमात्म-दर्शन, (२) उपासना की पद्धति, (३) कथा, (४) कायदा और (५) नीति।

कोई भी धर्म मुख्यतः गूढ़ अनुभवों पर अर्थात् आत्मदर्शन और आत्मानुभूति के आधार पर खड़ा रहता है। यही है धर्म का मुख्य हार्द। आत्मा अत्यन्त व्यापक है। उसके

अनुभव भी अनेक प्रकार के होते हैं। एक को जो अनुभव हुआ, बिलकुल वैसा ही दूसरों को नहीं होता। सारे ही अनुभव पवित्र होते हैं, एक-दूसरे के पूरक होते हैं। जिनको अनुभव हुआ, उनके जीवन में वह प्रकट होता है। कभी-कभी वे अनुभव भाषा द्वारा भी प्रकट होते हैं। जब वे भाषा में प्रकट होते हैं तब अनुभवों में मर्यादा आती है, यानी उनका प्रकाशन एकांगी होता है। उन अनुभवों को अच्छी तरह, साफ-साफ प्रकट करने की सामर्थ्य मनुष्य की वाणी में नहीं है। ये सारे अनुभव एकत्र करने होंगे। एकत्र करने पर भी परमेश्वर का पूर्ण दर्शन हुआ, ऐसा कहा नहीं जायेगा। यह भाग सब धर्मों का सामयिक उत्तराधिकार (विरासत) है।

दूसरी बात उपासना की पद्धति। परमात्मा के अनेक नाम हो सकते हैं और इसलिए उपासना की पद्धतियाँ अनेक हो सकती हैं। हिन्दू सबेरे पूर्व की ओर मुँह करके प्रार्थना करेगा, तब काबा पश्चिम में होने से मुसलमान पश्चिम की ओर मुँह करके प्रार्थना करेगा। प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उपासना करे, तो कोई गलत नहीं है। हमें ऐसा ही उपाय निकालना चाहिए कि उपासना की भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ होने पर भी सब एकत्र होकर प्रार्थना कर सकें।

धर्म की तीसरी बात है कथा। इब्राहीम की कथा, मोझेस की कथा, हरिश्चन्द्र की कथा – ऐसी कथाएँ धर्मग्रंथों में आती हैं। ये कथाएँ धर्म का गौण अंग हैं। फिर भी लोक-प्रेरणा के साधन के तौर पर उनका थोड़ा-बहुत स्थान है। सब धर्मों के लोगों को सारी कथाएँ पढ़नी चाहिए और उनसे बोध प्राप्त करना चाहिए। यह बोध सबके लिए होता है, सबको उसका अधिकार है। अतः यह भी सबकी मिलीजुली सम्पत्ति है।

चौथी बात कायदे की। इसमें उत्तराधिकारी आदि विषयक कायदे (विधान) होते हैं। विवाह कैसे किये जायें, मृत्यु के बाद दाह-क्रिया हो या दफन आदि बातें प्रत्येक धर्म में होती हैं। यह बात अब सभी धर्मों में निरुपयोगी हो गयी हैं। वास्तव में यह धर्म के महत्त्वपूर्ण अंग

ही नहीं हैं। लेकिन पहले के धर्मग्रंथों में, फिर वह मनुस्मृति हो या कुरान, बाइबिल – कायदे का भरपूर हिस्सा था। सब-कुछ एक ही ग्रंथ में आ जाय, ऐसा उस समय के लोगों का विचार रहा होगा। इसलिए सबेरे उठकर मुँह धोने तक की बात धर्म-ग्रंथों में कह दी गयी हैं। पुराने कायदे अब चलनेवाले नहीं हैं। वे कायदे उस-उस काल में, उन-उन क्षेत्रों के लिए थे, यह समझना चाहिए।

पाँचवीं बात है नीति। हमेशा सच बोलना, प्रेम करना, एक-दूसरे के दुःख में सहायक होना, परिश्रम करके खाना, आलस नहीं करना, चोरी नहीं करना, दूसरों के प्रति सहानुभूति रखना – ये नैतिक बातें प्रत्येक धर्म में हैं। ये बातें मैंने कुरानशरीफ में पढ़ीं, गीता में, भागवत में और धम्मपद में भी पढ़ीं। सबका स्वर एक ही है। साक्षीदार अनेक होने पर केस पक्का होता है। ऐसी मूलभूत बातें अमल में आनी चाहिए। इस विषय में दो राय नहीं हो सकती।

विवेकपूर्वक सार-ग्रहण

समाधि अमानवीय है, पर धर्म-प्रतिपादन मानव-स्तर पर होता है। वह मानवों द्वारा मानवों के सामने और मानवों के लिए होता है। उसके अगल-बगल में उस समय जो लोग होते हैं, उनका प्रभाव उस पर पड़ता है। यह मैं अपने अनुभव से कह रहा हूँ। मेरे सामने कौन श्रोता बैठे हैं, यह मैं देखता हूँ। उसका चित्त पर परिणाम होता है। इस कारण मैं जो भाषण देता हूँ, वह केवल मेरी ओर से ही नहीं दिया जाता, उस पर श्रोताओं का भी परिणाम हुआ होता है। अतः लोगों के द्वारा स्थापित धर्म पर, वह जिनके लिए रचा गया, उनका प्रभाव भी जरूर हुआ है। उसमें कुछ अंशों में न्यूनता रहना भी सम्भव है और कुछ अंशों में असत्य भी हो सकता है। यह सम्भव है और उस समय की परिस्थिति के लिए सत्य भी हो सकता है।

इसलिए धर्म में कुछ बातें क्षेत्र-कालानुसार बदलेंगी, परन्तु कुछ बातें कॉमन-सबके लिए लागू रहेंगी और कायम भी रहेंगी। कुरानशरीफ में कहा है कि धर्म-ग्रंथ के दो भाग

होते हैं – एक 'उम्मुल किताब' यानी ग्रंथ की माता और दूसरा भाग है 'मुतशाबिहात' (संदिग्ध, अस्पष्ट वचन)। 'मुतशाबिहात' के विषय में अलग-अलग मत हो सकते हैं। 'उम्मुल किताब' पर ही जोर दिया जाय। कायदे नये सिरे से बनाये जायें। उनके बारे में झगड़े करने में कोई सार नहीं।

जिन्हें हम धर्मग्रंथ कहते हैं, वे हिन्दू-धर्म के हों, मुसलमान-धर्म के हों, ईसाई धर्म के हों अथवा और किसी धर्म के हों, वे सबके सब धर्म-विचारों से भरे हुए हैं, ऐसी बात नहीं है, यह कहना पड़ता है। जिन्हें हम धर्म-विचार अथवा सद्विचार के रूप में आज की कसौटी पर कसकर मान्य नहीं कर सकते, ऐसे अंश बड़े-बड़े धर्मग्रंथों में हैं। इसलिए हममें सार ग्रहण करने की वृत्ति होनी चाहिए। सन्तरा बहुत अच्छा फल है, पर हम उसे पूरा नहीं खाते। उसका छिलका फेंकना पड़ता है, बीज निकालना होता है और जो साररूप अंश है, उतना ही ग्रहण किया जाता है। यह नियम धर्मग्रंथों पर भी लागू होता है।

एक जमाने में 'प्रस्थानत्रयी' का समन्वय कर अपना काम निभ गया, पर अब सर्वधर्म-समन्वय करने की आवश्यकता उत्पन्न हुई है। यह कार्य करते समय गौण-मुख्य विवेकपूर्वक धर्मग्रंथ से चयन करना होगा। धर्मग्रंथ से चयन करना ही गलत है – ऐसी 'सनातनी' (कट्टर) वृत्ति अलबत्ता छोड़ देनी होगी। समन्वय के लिए धर्म-विचारों का महत्तम समावर्तक निकालना होगा। इससे शुद्ध अध्यात्म हाथ आयेगा और विज्ञान-युग में वही काम आयेगा।

धर्मग्रंथ में अनेक विचार आते हैं। समाज के नीति-नियम, आचरण के नियम, शासन-विषयक नियम, कानून, सृष्टि और ईश्वर का सम्बन्ध, इतिहास, उससे सम्बन्धित पौराणिक कथाएँ, व्यक्तियों के चरित्र, लीलाएँ आदि-आदि सब प्रकार की बातें धर्म-ग्रंथ में आती हैं। सब इकट्ठा ही रहता था। इसलिए धर्मग्रंथ का चयन करना आसान नहीं होता। धर्मग्रंथ का

चयन करते समय यह खयाल रखना चाहिए कि किसी पर अन्याय न हो। ग्रंथ का सार अच्छी तरह से आ जाये और वह निर्विवाद हो। ये सारी बातें ध्यान में रखकर सावधानी से ध्यानपूर्वक चयन करना होता है।

इतिहास कुरेदना निरर्थक

सम्प्रदायवादियों को इतिहास की घटनाओं को कुरेदकर प्रकट करने की बड़ी हवस होती है। वे पुरानी घटनाओं की याद दिलाकर लोगों की द्वेषभावना को तेज करते हैं। सच्चा इतिहास तो हमें ज्ञात ही नहीं होता। इसलिए इतिहास के झमेले में न पड़कर कोई भी बात आज की परिस्थिति में त्याज्य है या नहीं है, इतना ही हमें देखना चाहिए। जब तक इतिहास का आग्रह और अभिनिवेश टलेगा नहीं, तब तक प्रगति नहीं होगी। हम पुराने इतिहास से चिपके बैठे रहेंगे तो विवेकशक्ति क्षीण होगी। मानवता पर जितना प्रहार होता है, उतना ही इतिहास में लिखा जाता है। इसलिए मानव-स्वभाव का ज्ञान इतिहास से नहीं हो सकता।

इन दिनों जिसे इतिहास कहा जाता है, उसमें संसारभर का कूड़ा-कर्कट एकत्र किया जाता है और वह पूरा का पूरा बालकों पर लादा जाता है। यह पाश्चात्यों ने शुरू किया है। हिन्दुस्तान के लोगों को इतिहास की जानकारी नहीं है। हिन्दुस्तान में हजारों राजा हो गये; परन्तु यहाँ की जनता को उनके नाम भी ज्ञात नहीं। उसे तो एक ही राजा का नाम मालूम है – राजा राम।

राजा राम कोई आर्य राजा था, ऐसा न समझें। रामायण में आर्य-द्रविड़ संघर्ष का उल्लेख नहीं है। यह भेद पाश्चात्य लोगों ने निकाला है। यहाँ जितने भेद हो सकते थे, उतने भेद उत्पन्न करने का प्रयत्न उन्होंने किया। हिन्दू-मुसलमानों में कुछ थोड़ा भेद था, उसे बढ़ाने का अंग्रेजों ने खूब प्रयत्न किया। इसी प्रकार उन्होंने उत्तर और दक्षिण में भेद उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। जिस राजा राम के गीत उत्तर और दक्षिण के सन्तों ने गाये, उन पर भी

उन्होंने आर्य-द्रविड़ भेद का रंग चढ़ा दिया। तमिल भाषा में सर्वोत्तम ग्रंथ ऐलुतच्छन का रामायण है। कम्बन और ऐलुतच्छन क्या पागल थे?

हिन्दू और मुसलमान भारत में एकतापूर्वक रहना सीख रहे थे, यह इतिहास है। सीधी-सरल बातें भी हम भूल जाते हैं। शिवाजी महाराज की भी मुसलमानों के साथ एकता थी। उनके बेड़े में मुसलमान अधिकारी थे। पानीपत की लड़ाई में भाऊसाहेब और इब्राहीम खाँ ने हिन्दू-मुसलमानों की एकता रक्त से जोड़ी थी। सन् १८५७ के गदर में हिन्दू और मुसलमान दोनों शामिल थे। मुसलमान राजाओं ने कितने ही हिन्दू कवियों को आश्रय दिया था। बाबर आत्मचरित्र में लिखता है, 'हिन्दुस्तान में रहना है तो गो-वध करना ठीक नहीं। हिन्दुओं की भावना को दुःखाना ठीक नहीं।' टीपू के ग्रंथ-संग्रह में संस्कृत ग्रंथ भी थे। पं. सुन्दरलालजी ने ऐसे कितने ही उदाहरण दिये हैं। हमने अंग्रेजों द्वारा लिखे इतिहास ही पढ़े हैं, उनकी कल्पनाओं को ही हृदय में धारण करके बैठे हैं।

सनातनी हिन्दुओं को मुसलमान राक्षस लगते हैं। वास्तव में कोई भी मानव-समाज राक्षस नहीं है। इससे उलटे सभी देशों के, समाज के कुछ लोगों ने लोभ और भय के शिकार होकर अत्यन्त दुष्टकृत्य किये हैं। पावित्र्यवादी हिन्दुओं ने भी अस्पृश्यों पर कोई कम अत्याचार नहीं किये हैं। हमारी स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व और उसके पश्चात् तत्काल हिन्दू, सिक्ख और मुसलमानों में राक्षसी कृत्य करने की मानो होड़ लग गयी थी। समाज में ऐसी दुष्टता की हवा बीच-बीच में उठती रहती है। परन्तु कुल मिलाकर समाज का वर्तन (व्यवहार) सामान्यतः अच्छा ही रहता है। हम एकाध विपरीत पूर्वाग्रह ले बैठते हैं और उस विकृत दृष्टिकोण में से घटना की ओर देखकर उनका एक काल्पनिक इतिहास रच लेते हैं। इसी कारण गैर-समझ बढ़ती रहती है, भय दृढ़ होता जाता है और मनुष्य पूरी तरह विकारों के अधीन हो जाता है। उसमें विचारों का सन्तुलन रहता ही नहीं।

भय छोड़ो, प्रेम जोड़ो

कुछ लोग मुझसे पूछते हैं, 'एक धर्म का दूसरे धर्म पर आक्रमण होता है, तो क्या उस धर्म को संगठित नहीं होना चाहिए?' यह प्रश्न हवाई न होकर जमीन का है। हम यद्यपि बहुसंख्यक हैं, तो भी मुसलमान हमें नष्ट (खतम) करेंगे, यह भय आज भी हिन्दुओं को है। मुसलमानों को नष्ट (खत्म) करेंगे, यह भय आज भी हिन्दुओं को है। मुसलमानों को भी यही भय लगता है। परन्तु ध्यान रखिये कि भय से ही भय निर्माण होता है। हममें जो गुण होगा, उसीका प्रतिबिम्ब सामनेवाले पर उभरेगा। किसी जानवर के सामने भी निर्भय होकर खड़े रहते हैं तो हमारी आँखों में निर्भयता निहार कर वह हम पर हमला नहीं करता। आज हमारा भयपना ही हमें भयभीत कर रहा है। हिन्दू-धर्म कितना बलवान है! उसने सबको अपने में मिला लिया है, और अपना रूप दे दिया है। अपना रूप देने की यह प्रक्रिया क्यों छोड़ते हैं?

वस्तुतः मुसलमान अपने ही हैं। बाहर से आनेवाले कितने होंगे? बहुत सारे तो यहीं मुसलमान बने हैं। ये मुसलमान हमारे अन्तःकरण की कटुता के प्रतिबिम्ब हैं। हमने यहाँ के अस्पृश्यों के साथ अच्छा बर्ताव नहीं किया, जिसके कारण उनमें से कई लोग मुसलमान बन गये। अतः उनके मन में हमारे विषय में सद्भाव नहीं है। दूसरे देशों के मुसलमान हमारे साथ बहुत अच्छी तरह बरताव करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि यहाँ के मुसलमानों में जो संकुचित वृत्ति है, वह हमारा ही प्रतिबिम्ब है। हजार वर्षों से यहाँ जातिभेद और संकुचितता ने स्थान जमा लिया है। मन्दिरों में हरिजन-प्रवेश निषिद्ध था। ये सब संगठन नहीं, विघटन हैं। साने गुरुजी ने मुझे एक प्रसंग सुनाया था कि जिन्हें मन्दिर में प्रवेश नहीं मिला, उन्हें मसजिद और चर्च में प्रवेश मिल गया।

कुछ लोगों का कहना है कि क्रिश्चियन लोग सेवा तो करते हैं, परन्तु सेवा करते समय लोगों को अपने धर्म की ओर खींचने का हेतु उनके मन में रहता है। मैं कहता हूँ,

आखिर वे सेवा ही तो करते हैं न! फिर भी यदि वे धर्मप्रसार की भावना से सेवा करते हैं तो भी मन्दिर में आश्रय न देनेवालों की अपेक्षा मसजिद और चर्च में आश्रय देनेवालों को उदार ही समझना चाहिए।

इसलिए हिन्दुस्तान को बाहर का कोई भी डरा नहीं सकता, यह ध्यान में रखें। अपना विनाश करनेवाले हम स्वयं ही हैं। सन् १९५२ में भी मैं वेदकालीन पोशाक धारण करता हूँ। आज तक मैंने कोट-टोपी का स्पर्श नहीं किया। परन्तु यदि हम निष्ठा नहीं रखेंगे, उदार नहीं रहेंगे, सुधारक नहीं रहेंगे, साहस के साथ दूसरे के निकट नहीं जायेंगे, तो हमारे धर्म के लिए खतरा है, यह समझ लें!

व्यापक भाव से सेवा

माँ के हृदय में उदारता होगी तो वह बच्चे की सेवा से मोक्ष प्राप्त कर सकती है। इसके विपरीत कोई देश-सेवा भी संकीर्ण भावना से करता है, दूसरे देश के प्रति द्वेष रखता है, तो उसे मोक्ष प्राप्त नहीं होगा। मनोभाव से बच्चे की सेवा की जाय तो वह मूर्तिपूजा का प्रतीक हो सकती है। उस सेवा से सारे विश्व की सेवा होगी, केवल उसके लिए वैसी योजना करनी चाहिए। वैसे ही ब्राह्मण की सेवा करते-करते सारी दुनिया की सेवा हो सकती है। ऐसा मैं मानता हूँ, तो भी आज हमारा समाज जिस स्थिति में है, उसे देखते हुए मैं मानव-सेवा को ही पसन्द करूँगा। इसलिए ब्राह्मणों को विशेष कुछ कहूँगा नहीं। मेरे कुछ मित्र ऐसी सभाओं में जाते हैं, यह अच्छी बात है। फिर भी मैं इस प्रकार के काम नहीं करता। नाम संकुचित होगा तो सेवावृत्ति होने पर भी मेरे हृदय को वह सेवा मान्य नहीं होगी, उसमें मुझे खतरा दीखता है।

हिन्दू और मुसलमान दोनों ठण्ढ से ठिठुर रहे हैं, दुःखी हैं। तब अकेले हिन्दू को या अकेले मुसलमान को कम्बल दी जाती है तो मैं उसे फेंक दूँगा। हिन्दुओं के लिए काम

करनेवाले हिन्दुओं को मैं दोष नहीं देता; परन्तु जहाँ मानवता का प्रश्न है, वहाँ यदि कोई ऐसा भेद करेगा, तो ऐसी प्रवृत्ति से किये गये काम मैं पसन्द नहीं करूँगा। ज्ञानदेव ने कहा है कि तुम छुआछूत माननेवाले हों, तो भी कोई डूब रहा हो तब ऐसा विचार न करें। उस समय तो डूबनेवाले को तत्काल बचाना चाहिए। ऐसा नहीं करेंगे तो वह महापातक ही होगा। मानवता के टुकड़े करनेवाली बात हृदय को असह्य होनी चाहिए। यदि कोई वर्धा जिले के लोगों के लिए फण्ड जमा करता है, तो इसमें हर्ज नहीं, परन्तु ऐसा करते हुए दिल नहीं टूटना चाहिए। मेरा मन ऐसी संकुचित बात स्वीकार नहीं करता। हिन्दू, मुसलमान, वैश्य या ऐसी ही किसी संस्था का सदस्य होता हूँ तो इतनेभर से मेरे माथे पर एक लेबल चिपक जाता है और आत्मा की विशालता कम हो जाती है। ऐसा करने में मैं कमाता कम हूँ और गँवाता (खोता) ज्यादा हूँ, ऐसा मुझे लगता है।

एक बार मैं जैन-बोर्डिंग में गया था। वहाँ मैंने कहा, मुझे ऐसी संस्था पसन्द नहीं। सरस्वती के मन्दिर में सबको प्रवेश मिलना चाहिए। ऐसी संस्थाओं में सद्भावना होने पर भी, उसके कारण हृदय का संकोच बुरी बात है। इसके कारण हम बहुत कुछ गँवा बैठते हैं।

आपको किसी एक जमात (समाज) की सेवा करनी हो तो खुशी से करें, परन्तु ऐसा करते समय 'मैं एक परिशुद्ध आत्मा हूँ' यह वृत्ति आँखों से ओझल न होने दें।

सभी जन मांसाहार छोड़ें

मैंने अलीगढ़ में कहा था कि इसलाम को कभी-न-कभी मांसाहार छोड़ना ही पड़ेगा। ऐसा कहने की हिम्मत दूसरा कौन करेगा? परन्तु मैं प्रेम से वहाँ गया, उनसे यह बात कही और उन लोगों ने भी अत्यन्त शान्तिपूर्वक और प्रेम से मेरी बात सुनी।

मेरी यात्रा में एक जगह गाय कटी थी। उसका बहुत हो-हल्ला हुआ था। यह गलती से हुआ था। 'जमीयत-उल-उलेमा' ने कहा था कि गाय मत काटो, परन्तु सरकार ने तो गोवधबन्दी नहीं की थी। मैं अचानक उस स्थान पर पहुँच गया। शुक्रवार का दिन था। मीटिंग मस्जिद में हो सकती थी, क्योंकि मस्जिद में दस-बीस गाँवों के लोग इकट्ठा हुए थे। मैंने वहाँ मीटिंग ली और उन लोगों से कहा कि जरा सोचो तो, अगर ईश्वर गाय-बकरे के बलिदान से सन्तुष्ट होता तो पैगम्बर को क्यों भेजता, उसके लिए तो कसाई ही काफी था। कुरान में साफ कहा गया है कि अल्लाह प्रेम का भूखा है, बलिदान का नहीं। वैसे अल्लाह तो माँस क्या, केला भी नहीं खाता। लेकिन हम उसे वे चीजें देते हैं, क्योंकि हम जो खाते हैं, वह भगवान् को देकर खाते हैं। इसलिए लोगों को मांस खाने से छुड़ाना चाहिए। अल्लाह तो धर्मनिष्ठा और प्रेम चाहता है।

मुसलमान भाइयों से मैं हमेशा एक बात कहता हूँ कि हम सब मनुष्य जैसे परस्पर प्रेम करते हैं, वैसा ही प्रेम मानवेतर प्राणियों के प्रति भी होना चाहिए। पशु को मारकर खाने की आदत छोड़ने का प्रयत्न करना चाहिए। भारत में मांसाहार-परित्याग का बहुत बड़ा प्रयोग हो गया है। यद्यपि वह अभी पूरी तरह सफल नहीं हुआ है, तो भी भारत का यह विचार आज या कल सारे जगत को स्वीकार करना ही होगा। अब यूरोप-अमेरिका में भी शकाहार का प्रयोग हो रहा है। अन्य प्राणियों को मारकर अपना पेट भरने की बात मनुष्य को रुचेगी नहीं। परन्तु वह दिन आने में अभी देर है, यह मैं जानता हूँ। फिर भी मैंने आपके सामने यह विचार इसलिए रखा कि जानवरों का मांस खाकर जीना मानव के लिए शोभनीय नहीं है। यह भारत की संस्कृति का कहना है।

मुझे लगता है कि अपने अन्न के लिए किसी भी पशु की हत्या न करना और पशु को अपना भक्ष्य न समझना, इस उद्देश्य के रुख से आगे समाज को व्यवहार करना चाहिए। हम पशुओं का रक्षण कर नहीं सके, फिर भी उन्हें अपना भक्ष्य बनाना उचित नहीं। यहाँ की

ब्रह्म-विद्या में से निष्पन्न भारत का यह विशेष सन्देश है। अतः फलाहार, शाकाहार सब मनुष्यों के लिए उत्तम आहार है, यह बात भारत के सभी धर्मों को स्वीकार करनी चाहिए। मानव के विकास के लिए और परिपूर्णता के लिए और सब धर्मों की एकरसता बनने के लिए मानव का मांसाहारी रहना उचित नहीं है, यह अत्यन्त आवश्यक है।

सेंट पॉल का वचन है, 'मैं मांस खाने से अधिक अच्छा (स्वस्थ) नहीं बनूँगा और मांस खाना छोड़ने से बुरा (अस्वस्थ) बननेवाला नहीं। परन्तु मेरे मांसाहार के कारण मेरे पड़ोसी बन्धु को दुःख होता है, तो मुझे हमेशा के लिए मांसाहार छोड़ देना चाहिए।'

गो-रक्षण को आश्रय

कुरान में गाय के बलिदान को आवश्यक बतानेवाला विधान नहीं है और हिन्दुओं में भी जिसमें बलिदान आवश्यक हो, ऐसा धार्मिक कार्य नहीं है। बलिदान गलत है। बलिदान के लिए गाय अनिवार्य नहीं है। भारत में गोरक्षा होनी चाहिए, यह भारतीय संस्कृति की माँग है। हमारे देश की अर्थ-व्यवस्था का गाय-बैल मेरुदण्ड (रीढ़) है।

मैं मुसलमान और ईसाई दोनों की ओर से उनका प्रतिनिधि बनकर कह सकता हूँ कि दोनों धर्मों में गाय का बलिदान आवश्यक नहीं है।

हदीस में तो स्पष्ट कहा गया है कि 'गाय को मत मारो। गाय का दूध पीओ।' संविधान परिषद में गो-हत्या बन्दी को सभी मुसलमानों ने समर्थन दिया था। इसके सिवाय बहुसंख्यकों की भावना की कद्र करना अल्पसंख्यकों का धर्म ही है; विशेषकर जब इसमें अल्पसंख्यकों की धर्म-भावना को धक्का नहीं लगता।

मुस्लिम व ईसाइयों का आह्वान

मैं जब ईसाई या मुसलमान लोगों से कहता हूँ कि तुम लोग जो मान बैठे हो कि ईसा की अनुभूति पूर्ण है, मुहम्मद की अनुभूति पूर्ण है, इसे मैं नहीं मान सकता। ईश्वर की पूर्ण

अनुभूति ईश्वर को ही है। दूसरों को उसकी अंशानुभूति ही हो सकती है। इसलिए तुम लोगों को दूसरे धर्मों का अनुभव 'शेअर' करना चाहिए। उसका लाभ लेना चाहिए। उससे अपूर्ण पूर्ण होगा। सोचना चाहिए कि ईश्वरीज्ञान का एक अंश इसलाम में आया है। बहुत अच्छा अंश है। लेकिन एक दूसरा भी अंश है, जो हिन्दू-धर्म में पड़ा है। एक तीसरा भी है, जो ईसाई धर्म में पड़ा है। अन्य धर्मों में भी भिन्न-भिन्न अनुभव हैं।

मैंने कई बार भारत के मुसलमानों को समझाया है कि आप लोग समझें कि आपका 'ओल्ड टेस्टामेंट' क्या है। तब तुम भारत की खूबियों को हजम करोगे। तुम्हारा 'न्यू टेस्टामेंट' कुरानशरीफ है। लेकिन 'ओल्ड टेस्टामेंट' वेद और उपनिषद् हैं।

भारतीय क्रिश्चियन बन्धुओं ने यहाँ की पृष्ठभूमि स्वीकार कर ली और भारत के ईसाई धर्म का एक विशिष्ट विचार (रूपरेखा) निर्माण किया, तो इससे ईसाई-धर्म परिपूर्ण होगा तथा हिन्दू-धर्म व इसलाम आदि धर्मों में भी पूर्णता आयेगी। सबका संगम होगा।

'पड़ोसी पर प्रेम करो, शत्रु पर प्रेम करो' इस उपदेश का कारण क्या है? प्रेम क्यों किया जाये? इसका उत्तर भारत की ब्रह्मविद्या के पास है। यह ब्रह्मविद्या यदि यहाँ के ईसाई और मुसलमान स्वीकारते हैं तो उनके विचार को बल ही मिलेगा। उन्हें जो प्रचार करना है, वह सहज रूप से होगा।

इसलाम में एक प्रकार का बन्धुभाव है। वह सभी धर्मों को मान्य है। सेवामय काम करने की प्रवृत्ति ईसाई धर्म की विशेषता है। यह भी सबको मान्य है। भारत के हिन्दू के तौर पर मैं कहना चाहता हूँ कि मुझे इसलाम और ईसाई धर्म मान्य है। इस मान्यता से मेरा हिन्दुत्व नष्ट नहीं होता, बल्कि फूलता है, प्रकाशित होता है।

इसलाम-धर्म का बन्धुभाव और ईसाई धर्म की सेवा-वृत्ति के कारण यहाँ की ब्रह्मविद्या अधिक समर्थ बनेगी। यहाँ का इसलाम धर्म वैशिष्ट्य पूर्ण रहेगा। ईसाई धर्म भी

वैसा ही बनेगा। भारत-भूमि का रंग चढ़ने से दोनों में विशेष बल आयेगा और उनकी प्रभा आकर्षक बनेगी। यहाँ का लोकमानस उन्हें अपनी वस्तु मानेगा जब उनका ऐसा स्वरूप बनेगा। तब उन्हें व्यापक कहा जायेगा।

धर्मान्तर अनुचित

इधर धर्म के प्रचार का नाप संख्या पर से लगाते हैं। अधिक संख्या यानी अधिक प्रचार। परन्तु इससे ज्यादा गलत विचार दूसरा हो नहीं सकता। धर्म आत्मा का विषय है। दुनिया में जितने धर्म हैं, वे सब अलग-अलग प्रकार से ईश्वर के गुणों की उपासना के लिए हैं। उनमें विरोध सम्भव ही नहीं रहेगा, बल्कि वे एक-दूसरे के पूरक बन सकते हैं। एक-दूसरे की पुष्टि, शुद्धि या पूर्ति कर सकते हैं। एक के विकास में ही दूसरे का विकास है। एक व्यक्ति के कल्याण में दूसरे व्यक्ति का और पूरे समाज का कल्याण निहित है।

क्रिश्चियन लोग आदिवासियों में काम करते हैं और उन्हें ईसाई बनाते हैं। लोग ईसाई बनें, इसमें हमें उज्र (आपत्ति) नहीं है। लेकिन वे डि-नैशनलाइज (राष्ट्र-विरोधी) हो जाते हैं, यह समस्या है। ईसाई बनते हैं लोभ से, धर्म की दृष्टि से नहीं। बाहर से आर्थिक मदद मिलती है, तो धर्म का विचार गौण हो जाता है। सरकार को कानून द्वारा धर्मान्तर बन्द करना चाहिए। उसका निषेध करना चाहिए। लेकिन वह उलटा समझती है कि निषेध करना योग्य नहीं। **वास्तव में सेक्युलर स्टेट में धर्मान्तर का निषेध ही होना चाहिए**।

मेरी राय में यह जो धर्मान्तर-प्रक्रिया है, वह सर्वथा गलत है; क्योंकि उसमें संख्या-वृद्धि का विचार है और उससे उन-उन धर्मों के जो मुख्य संस्थापक थे, उनको कोई आनन्द होनेवाला नहीं है। जिस ढंग से क्रिश्चयानिटी (ईसाइयत) का प्रचार दुनियाभर में लोगों ने किया है, उससे ईसामसीह को खुशी होगी, यह मानना बिलकुल गलत है। यहाँ का राज्य धर्म-निरपेक्ष 'सेक्युलर स्टेट' कहलाता है। सब धर्मों को आजादी है कि अपने धर्म का

विचार-प्रचार करें। परन्तु मत-परिवर्तन, हृदय-परिवर्तन के द्वारा जो होता होगा, उसके अलावा धर्मान्तर कराने की जो प्रक्रिया यहाँ जोरदार चली है, मेरी राय में उसे बन्द करना ही चाहिए। कानून से भी बन्दी हो सकती है। ऐसा करने में सेक्यूलरिज्म को कोई बाधा आयेगी, ऐसा मैं नहीं मानता। इतना ही नहीं, मैं तो और अधिक मानता हूँ कि जो सन्तति के द्वारा धर्म-वर्धन चल रहा है, वह बिलकुल गलत है। बल्कि हर मनुष्य को, १८ वर्ष की उम्र में जाहिर करना चाहिए कि वह किस धर्म को मानता है। वह अमुक माता-पिता से पैदा हुआ, इसलिए आटोमेटिकली उस धर्म का हो गया, यह जो आटोमेटिक यंत्र चल रहा है, वह भी बन्द होना चाहिए। १८ वर्ष की आयु में अपना धर्म साफ जाहिर करना चाहिए, फिर माता- पिता चाहे किसी भी धर्म के हों। अजीब बात है यह कहना कि सन्तान बढ़ाओ तो धर्म बढ़ेगा। संयम के विरुद्ध आदेश देना और कहना कि वह धर्म-प्रचार का साधन है, बिलकुल गलत है।

भारत में प्राचीन काल में एक ही कुटुम्ब में पिता हिन्दू, एक पुत्र बौद्ध, दूसरा पुत्र जैन दिखाई देता है। आज ऐसा क्यों नहीं हो सकता? इस पर गम्भीरता से विचार होना चाहिए। इस विषय में हमारी मानसिक तैयारी होनी चाहिए।

आज सभी धर्मों की स्थिति अच्छी नहीं है। हमें धर्म का मूलभूत विचार ही ग्रहण करना चाहिए। इसलिए मैंने एक मंत्र दे दिया है कि ये सारे धर्म-पंथ आउट डेटेड (कालबाह्य) हैं, इनको जाना है और अध्यात्म को आना है।

विचार-निष्ठा का महत्त्व

जिनकी आदि, मध्य, अन्त केवल विचार पर ही निष्ठा रही और विचार समझाकर जिन्होंने सन्तोष माना, ऐसे लोगों की जमात दुनिया में दीख पड़ती है। जैसे महावीर, वे जिस किसी से मिलते थे, उसकी भूमिका पर जाकर उसे विचार समझाते थे। अपने निज के

किसी विचार का सामनेवाले पर आक्रमण नहीं करते थे, बल्कि पूछ लेते थे कि वह व्यक्ति किस प्रकार की विचार-पद्धति को मानता है। उसे उस प्रणाली के अनुसार समझाते थे और यही कहते थे कि विचार कभी एकांगी नहीं होता। जो एकांगी होता है, वह विचार ही नहीं, अविचार होता है। इसलिए तुम जो सोचते हो, वह भी सही है; लेकिन उससे भिन्न बातें भी सही हो सकती हैं; इस बात का खयाल मन में रखो और अपने विचार की पूर्ति के लिए उस विचार से बाहर जाकर कुछ विचार करने की, विचार के विकास की, पुष्टि की आशा रखो। उसके लिए हृदय खुला रखो। इस तरह वे अत्यन्त अनाग्रह के साथ विचार समझाते थे। उन्होंने दुनिया को बड़ी भारी देन दी कि कोई भी विचार परिपूर्ण और सर्वांगीण हो सकता है। जो सर्वांगीण नहीं होता, वह विचार ही नहीं है। उन्होंने कोई भी स्थूल कार्य अपने हाथ में नहीं लिया था और जिसे उन्होंने मध्यस्थ-दृष्टि कहा, उस मध्यस्थ-दृष्टि से वे जनता को सिर्फ विचार ही समझाते रहे।

महावीर के चालीस साल बाद बुद्ध आये। उन्होंने महावीर से भिन्न प्रक्रिया चलायी। उन्हें समाज के सामने एक विचार रखना था। उसके लिए उन्होंने आधाररूप एक कार्य ढूँढ़ लिया। वह कार्य उनके लिए सर्वस्व नहीं था, परन्तु वह कार्य उनके लिए विचार का वाहक था और विचार-प्रचार के लिए एक साधन के तौर पर उन्होंने उस जमाने में यज्ञ में घुसे हुए विकारों की शुद्धि का कार्य हाथ में लिया। वे प्रचार तो शुद्ध करुणा का ही करते थे। परन्तु साथ-साथ यज्ञ में किया जानेवाला बलिदान बन्द करने का कार्यक्रम भी उन्होंने हाथ में लिया। विचार-प्रचार की यह दूसरी पद्धति है।

इससे आगे चलकर जिनकी विचार पर श्रद्धा थी, उन्होंने विचार-प्रचार के लिए सम्प्रदाय, शिष्य-परम्परा आदि बनाना शुरू किया। इससे आगे चलकर सत्ता के द्वारा प्रचार किया गया।

विचार-ग्रहण के लिए भौतिक प्रतिकूलताएँ पैदा करना – ये सारे प्रयत्न किये गये। धर्म-विचार के साथ सत्ता जुड़ गयी और सत्ता ने धर्म-विचार का प्रचार करना अपना कर्तव्य समझा। इसका परिणाम क्या हुआ, यह हम जानते हैं। आज दुनिया में एक-एक धर्म के माननेवालों की संख्या करोड़ों में है, परन्तु धर्म-विचार की असलियत (सही स्वरूप) छिप गयी है या विकृत हो गयी हैं; वह प्रकट नहीं हो रही है।

इसके आगे जिस विचार को हम अत्यन्त पवित्र मानते हैं, और जिसके ग्रहण से मनुष्य-जाति का अत्यन्त कल्याण होगा ऐसा मानते हैं, उसके विरोध में कोई शक्ति खड़ी होती है तो उसे तोड़ना भी आवश्यक समझा गया और विचार-प्रचार में, सुरक्षा के नाम पर सैनिक शक्ति की भी मदद ली गयी। आरम्भ में तो सुरक्षा के लिए सैनिक शक्ति आयी। मुहम्मद पैगम्बर ने अत्यधिक तितिक्षा और सहनशीलता बरती और सबको यही समझाया कि हमारे विचार परमेश्वर की देन हैं। फिर भी लोग हमें तकलीफ देते हैं तो उसे सहन करना चाहिए। किन्तु बीच में ऐसा हुआ कि शिष्यों की सहनशक्ति टूट गयी और वे भागने लगे। तब पैगम्बर को यह कहना पड़ा कि डरपोक बनकर भागना ठीक नहीं है। इससे बेहतर यह है कि तुम तलवार लेकर मुकाबला करो। लेकिन जितनी मात्रा में उसकी जरूरत हो, उतनी ही मात्रा में उसका उपयोग करो। इस प्रकार विचार-प्रचार के लिए नहीं, बल्कि विचार के बचाव के लिए आरम्भ में हिंसा को सम्मति दी गयी। इस प्रकार विचार-प्रचार में एक नयी शक्ति काम करने लगी। उसके बाद किसी प्रकार विचार समझाने की बात ही नहीं रही और ऐसे काम किये गये, जिससे जो व्यक्ति विचार मान्य न करता हो, उसे दण्ड देना चाहिए, यह नियम बना। इस प्रकार विचार अविचार में परिणत हुआ। संख्या बढ़ाने का काम या विचार सभी धर्मों ने किया। पर संख्या में धर्म होता नहीं। धर्म का कार्य तो मनुष्य की मनुष्यता बढ़ाना है।

सर्वधर्म-समभाव की सिद्धि

किसी भी धर्म का दूसरे धर्म से विरोध नहीं है। सबका विरोध यदि किसी बात के लिए होगा तो वह अधर्म के लिए है। अधर्म के विरुद्ध सबको एक होना चाहिए। जो आपस में लड़ेंगे वे नष्ट होंगे।

जब हम सर्वधर्म-समभाव की बात करते हैं, तो दूसरे धर्मों का परिचय भी जरूरी है। हमें एक-दूसरे के धर्म का अच्छा ज्ञान होना चाहिए। हिन्दू-धर्म में क्या है, इससे मुसलमान को वाकिफ होना चाहिए। इसी तरह ईसाई आदि धर्मों की बात है। हिन्दू 'कुरानसार' पढ़ें और मुसलमान 'गीता-प्रवचन' पढ़ें। दोनों को दोनों ग्रंथों का परिचय होगा, तब उनके दिल एक-दूसरे से जुड़ेंगे।

सर्वधर्म-समभाव में मैं चार बातें आवश्यक मानता हूँ – (१) पहली है स्वधर्म-निष्ठा। (२) अन्य धर्म का आदर। (३) सर्वधर्म-सुधार, जिसके बिना मनुष्य आगे नहीं बढ़ सकता। और (४) जो इन तीनों में से सहज ही निकलती है-अधर्म का विरोध। ये चारों बातें एकत्र होती हैं, तब सर्व-धर्म समभाव सिद्ध होता है।

हमें हमारा धर्म पूज्य (श्रद्धेय) लगता है और लगना चाहिए, परन्तु यह नहीं कि वह श्रेष्ठ है इसलिए पूज्य है। वह धर्म मेरे अत्यन्त निकट है, इसलिए वह मेरे लिए पूज्य है। मैं धर्म को माता की उपमा देता हूँ। मेरी माँ कैसी भी हो, वह मेरे लिए प्रिय है और पूज्य है। यही बात धर्म की है। प्रश्न श्रेष्ठता-कनिष्ठता का नहीं है। अपने धर्म के प्रति प्रेम रखकर मैं अन्य धर्मों के प्रति आदर रख सकता हूँ।

सभी धर्म परमेश्वर की तरफ जाने के रास्ते हैं। इसलिए एक-दूसरे के विषय में पूज्यभाव होना चाहिए। एक-दूसरे के धार्मिक उत्सवों में आनन्द और भक्ति के साथ शरीक होना चाहिए।

हिन्दू-मुस्लिम एकता – हिन्दुस्तान की एक स्थूल समस्या है। इसे यदि मानव हल न कर सके तो काल-पुरुष हल करेगा। अतः अनन्तकाल में उसका कोई मूल्य नहीं है। लेकिन सर्वधर्म-समभाव, जो समस्या का सूक्ष्म रूप है, अनन्तकाल में भी अपना महत्त्व रखता है। भारत ने समन्वय का विचार विश्व को दिया है। सर्वधर्म समभाव उसी का परिपाक है। लेकिन उस परिपाक को अभी हमें सिद्ध करना है।

मौन-प्रार्थना

प्रार्थना इसका एक साधन हो सकती है। आज क्या होता है? अन्य कामों के लिए हम जमा हो जाते हैं, परन्तु परमेश्वर की उपासना के नाम पर दूर रहते हैं। इसका अर्थ यह है कि हम परमेश्वर को पहचानते ही नहीं। परमेश्वर के नाम पर तो हममें एकता आनी चाहिए। इसका उपाय खोजना चाहिए। मैंने ऐसा उपाय खोजा है; वह है मौन-प्रार्थना। जो नाम हमें प्रिय है, वह मन में लिया जाय, परमेश्वर का स्मरण किया जाय। इसलिए इसमें सब धर्मवाले, सब भाई-बहन, बच्चे-बूढ़े सभी शामिल हो सकते हैं। सत्य, प्रेम और करुणा सब धर्मों का सार है। तब संघर्ष का प्रश्न ही नहीं रहता। परमेश्वर के गुण अनेक हैं। तब प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न गुणों की उपासना करता है। परन्तु सबके लिए ऐसी एकाध उपासना-पद्धति रहे, यह बात मेरे मन में काफी समय से घुल रही थी। सब धर्मों के चुनिंदा अंश लेकर प्रार्थना करने की पद्धति गांधीजी ने शुरू की थी। उसका भी बहुत प्रसार हुआ। पर मेरे मन में विचार आया कि इस प्रकार अठारह अनाजों का सत्तू बनाने से काम चलेगा नहीं। सब धर्मों के लोग जिसमें शान्तिपूर्वक लीन हो सकते हैं, उपासना का ऐसा कोई सर्वोत्कृष्ट प्रकार शोधना चाहिए। तब मेरे ध्यान में आया कि मौन से यह हेतु सध सकता है। और तब मैंने मौन प्रार्थना का प्रघात शुरू किया। मौन के समय प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी रुचि के अनुसार परमेश्वर के नाम का मन में जप करे और उसके गुणों का चिन्तन करे, ऐसा मैं कहता हूँ।

सत्य-प्रेम-करुणा ये तीनों सब धर्मों के सारभूत गुण हैं। अतः उन गुणों का चिन्तन करें, ऐसा कहता हूँ। इस मौन-प्रार्थना में सारे भाग आ सकते हैं। वे सब सीधे परमेश्वर तक पहुँचते हैं। अतः मौन सबके लिए प्रार्थना की सर्वोत्कृष्ट पद्धति है। लेकिन फिर भी कोई अपनी पसन्द (रुचि) के अनुसार अपने घर में अलग-अलग श्लोक, पद आदि बोलता है, गुनगुनाता है तो इसमें कोई अनुचित बात नहीं है, अच्छी ही है। जैसे सात सुरों से संगीत स्फुरित होता है, वैसे ही उपासना के भिन्न प्रकार भी भिन्न-भिन्न स्वर ही हैं।

•

१०. धर्म का सही स्वरूप

मानवता रखें

एक बार एक जैन लड़के से पूछा, 'तू कौन है-जैन या मनुष्य?' प्रश्न सुनकर लड़के को मजा आया। परन्तु उसने वगैर जरा भी विचार किये सीधे जवाब दिया- 'मैं मनुष्य हूँ।' एक छोटा-सा बालक भी इतना जानता है कि मैं सबसे पहले मनुष्य हूँ, बाद में और सब-कुछ। परन्तु बड़े आदमी इतनी सीधी-सी बात भी नहीं समझते। मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ धर्म क्या है? इसकी चर्चा करते-करते नीतिशास्त्र ने कहा है, 'मनुष्यता'। उस लड़के ने भी तो यही कहा था। 'मनुष्यता' के मुख्य धर्म को याद रखकर हमें संसार में सब काम करने चाहिए। हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण, ब्राह्मणेतर कुछ नहीं रह जाते। हिन्दू भी तो आदमी ही होता है। जो आदमी नहीं, वह हिन्दू कैसे? वैसे ही मुसलमान और अन्य भी कैसे? लड़ने की जरूरत पड़े तो लड़िये-झगड़िये, उसमें आपत्ति नहीं; पर मानवता मत छोड़िये। सम्भवतः वह लड़का पूछेगा, 'क्यों जी, मनुष्यता में लड़ना आता है?' उसे आप क्या उत्तर देंगे? **मानवता में लड़ना न आये, फिर भी कम-से-कम लड़ने में तो मानवता रखें।**

मानव-सेवा का धर्म

अब हमें मानव-सेवा का धर्म स्थापित करना है। उसमें पूजा-अर्चना रहेगी नहीं, मानव-सेवा आयेगी। भक्ति का सेवा में रूपान्तर करनेवाले मानव-सेवाधर्म की स्थापना हमें करनी है।

शबरी भीलनी के जूठे बेर भगवान् ने खाये, क्योंकि उसके पीछे प्रेम-भावना थी। प्रेम एक ऐसा महान् धर्म है कि जिसमें अन्य सारे धर्म डूब जाते हैं। सूर्य के प्रकाश में सारे तारे विलुप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार प्रेम-धर्म के प्रकाश के सामने दूसरे सारे धर्म क्षीण हो जाते हैं। आज उसी प्रेम-धर्म की स्थापना करनी है। समाज देव है और व्यक्ति को उसकी पूजा

करनी है। नारायण की सेवा करने के लिए यह नरदेह मिली है। इस नारायण की सेवा को आप भक्तिमार्ग कहिये या कोई दूसरा नाम दीजिये। समाज में मुझे उसी का प्रचार करना है।

आज हिन्दू-धर्म का नाम लेनेवाले जैसे करोड़ों लोग हैं, उसी तरह इसलाम-धर्म का नाम लेनेवाले भी करोड़ों लोग हैं। लेकिन सब नाम के ही हैं। हिन्दू या इसलाम धर्म का कोई नहीं है। हम भाषा अद्वैत की बोलते हैं; पर व्यवहार में अपने मन अलग-अलग रखते हैं। विचार और आचार में इस प्रकार का अन्तर अब किसी काम का नहीं है।

‘धर्म’ शब्द की विशिष्टता

हमारी इस भारतभूमि में अत्यन्त प्राचीन काल से आज तक ‘धर्म’ शब्द सतत चलता आया है। बाहर की दूसरी किसी भी भाषा में इस शब्द के लिए ठीक प्रतिशब्द उपलब्ध नहीं। धर्म शब्द का अनुवाद दूसरी भाषाओं में करने जाते हैं, तब मुश्किल होती है। ‘धर्म’ संस्कृत शब्द है। मराठी, हिन्दी आदि भारतीय भाषाओं में उसका अर्थ बताया जाता है – ‘धर्म यानी धर्म!’ जैसे छोटे बच्चे से पूछेंगे कि तुम्हारी माँ का नाम क्या है, तो वह कहेगा-माँ! हिन्दुस्तान की सभी भाषाओं में धर्म शब्द ही चलता है।

धर्म एक व्यापक शब्द है। जिस नीति-विचार पर हमारा जीवन चलता है, उसे हम धर्म कहते हैं। धर्म अविचल होता है। उसके सिद्धान्त पक्के होते हैं। जिस तरह गणित के सिद्धान्त इस देश और उस देश में तथा इस काल और उस काल में स्थिर रहते हैं, उसी तरह धर्म के सिद्धान्तों में भी फर्क नहीं होता। धर्म के सिद्धान्त मूलभूत होते हैं, तीनों कालों और सब देशों में समान और अविचल होते हैं। जैसे सत्यनिष्ठा, प्रेम, दया ये सद्गुण, जिन्हें भगवान् ने दैवी-सम्पत्ति नाम दिया है। वस्तुतः वही सनातन धर्म है जो अविचल, ध्रुव, शाश्वत, स्थिर और नित्य होता है। यह हमने प्राचीन काल से माना है और आज भी मानते हैं।

धर्म वह है जो धारण करता है, वे बुनियादी उसूल, जिनके अभाव में जीवन छिन्न-विच्छिन्न होगा, धर्म है। मनुष्य कर्म के बिना एक क्षण भी रह नहीं सकता। भूख लगती है तो कर्म के लिए बहुत बड़ी प्रेरणा मिलती है। सभी प्राणियों को भूख है और भूख की तृप्ति के लिए कुछ कर्म तो करना ही पड़ता है। लेकिन कर्म करते समय सत्य का खयाल रखना होगा, नहीं तो वह धर्माचरण नहीं होगा। यानी मूल्यों को छोड़ें नहीं, उन पर अडिग रहें, वह धर्माचरण है। धर्म सूक्ष्म रूप है। कर्म शरीर है, धर्म प्राण है।

धर्म और व्यवहार

शरीर और आत्मा के बीच या व्यवहार और तत्त्व-विचार के बीच या वर्तमान स्थिति और प्राप्तव्य स्थिति के बीच धर्म एक पुल का काम करता है। पुल नदी के एक ही किनारे खड़ा नहीं होता, बल्कि नदी के दोनों किनारों पर खड़ा होता है। भोग इस पार है, मोक्ष उस पार है और धर्म दोनों पार (ओर) है। समाज को आज की स्थिति में से आदर्श की तरफ ले जाने के लिए जो विचार प्रस्तुत होगा, वह धर्म-विचार होगा। केवल परिशुद्ध तत्त्वज्ञान का स्वरूप वह नहीं ले सकता। वह परिशुद्ध तत्त्वज्ञान में सहज पहुँचा देनेवाला वाहन है। पथ और मुकाम में जो फर्क और जो सम्बन्ध है, वही धर्म और मोक्ष में है।

जिस प्रकार आँख, कान आदि इन्द्रियों के द्वारा मन ही अलग-अलग ढंग से प्रकट होता है, उसी प्रकार राजनीति, समाज-व्यवस्था, आर्थिक प्रवृत्ति आदि विषयों के द्वारा मनुष्य का धर्म व्यक्त होता है। यदि व्यवहार के क्षेत्र में धर्म के लिए गुंजाइश ही न हो, तो धर्म रहेगा कहाँ? शंकराचार्य के मठ में? लेकिन मठ में रहेगा, तो वह जितना 'पवित्र' बनेगा, उतना ही 'अस्पृश्य' बन बैठेगा। इसका अर्थ यह नहीं कि शंकराचार्य के मठ में वह न रहे, लेकिन राजनीति का मण्डप उसके लिए अछूता न माना जाये। व्यापारी की दूकान में भी वह प्रवेश करे; बल्कि व्यवहार के सभी नाकों (क्षेत्रों) को वह काबिज करे, तभी धर्म के कुछ माने

होंगे। धर्म और व्यवहार की जोड़ी किसी भी परिस्थिति में टूटनी नहीं चाहिए। दोनों का मेल होना चाहिए, बल्कि मेल करा देना चाहिए। धर्म का व्यवहार से मेल करना, धर्म और व्यवहार दोनों की दृष्टि से अपरिहार्य है। लेकिन इस मेल का अर्थ धर्म को पतित करना नहीं, व्यवहार को पावन करना है। धर्म की नींव पर राजनीति का भवन खड़ा करना है। धर्म की चादर के नीचे राजनीति को ढंकना नहीं है।

प्रत्यक्ष अनुभव का धर्म

हमें धर्म को मठों या मन्दिरों तक सीमित नहीं रखना है। न ही उसे स्थितप्रज्ञ के सुपुर्द कर देना है, बल्कि धर्म को हमें समाज के दैनन्दिन व्यवहार में लाना है। जैसे हमें जमीन का वितरण करना है, सम्पत्ति का वितरण करना है, वैसे ही धर्म का भी समाजव्यापी वितरण कर देना है। 'मेरा धर्म क्या है?'- यह किसी शास्त्रकार से पूछने की जरूरत नहीं, धर्मग्रंथों में ढूँढने की भी जरूरत नहीं। यह तो मनुष्य के स्वयं ही समझ में आने की बात है। क्या कभी कोई माँ किसी शास्त्रकार से पूछने जाती है या किसी मनुस्मृति में देखने जाती है कि बच्चे को दूध पिलाना मेरा धर्म है या नहीं? अपना धर्म उसे सहज मालूम होता है। वैसे ही प्रेम, दया आदि धर्म भी मनुष्य में सहज रीति से स्फुरित होने चाहिए। ऐसा स्वस्फूर्त मानवधर्म अब पनपना चाहिए – ऐसा धर्म जो मनुष्य के श्वासोच्छ्वास के साथ बुना जाये। श्वास लेना हम एक पल को भी छोड़ नहीं सकते, धर्म ऐसा होना चाहिए – मानवधर्म छोड़कर एक क्षण भी मनुष्य टिक न सके। सम्प्रदायों से ऊपर उठा मानवधर्म अब सर्वत्र फैलना चाहिए।

आज के धर्म, पंथ हैं

दरअसल आज हम जिनको धर्म कहते हैं, वे वास्तव में धर्म नहीं हैं, 'पंथ' हैं। जिसे आत्मा का साक्षात्कार होता है, उस व्यक्ति की शक्ति मर्यादित नहीं रहती। देहातीत होने पर

मनुष्य को आत्मा का साक्षात्कार होता है। उस साक्षात्कार को वह मानता है, मानना ही पड़ता है। वह उसका अनुभव होता है। वह उसका वर्णन शब्दों में नहीं कर सकता, उसके अनुभव में वह चीज आती है। फिर उसकी संगति से (केवल शब्दों से नहीं) कहने से, चलने से वह चीज दूसरों को छूती है। जिन्हें अनुभव नहीं हुआ, अपितु स्पर्श हुआ है, वे श्रद्धा रखते हैं। जिसे अनुभव हुआ, स्वयं उसके लिए श्रद्धा का प्रश्न नहीं है। मेरे पास यह घड़ी है। मैं इसे देख रहा हूँ, यह अनुभव की बात है। वैसे ही आत्मा का अनुभव जहाँ हुआ, वहाँ श्रद्धा जरूरी नहीं होती। लेकिन जिन्हें अनुभव नहीं हुआ है, उन्हें श्रद्धा की जरूरत होती है। किसी एक को ही अनुभव हुआ, लेकिन उस अनुभव का प्रभाव उन पर भी होता है, जिसे वे टाल नहीं सकते। जैसे हाइड्रोजन बम के प्रयोग के असर को टाल नहीं सकते। वैसे ही एक मनुष्य के आत्म-साक्षात्कार से हुआ असर कुल दुनिया पर न्यूनाधिक मात्रा में होता है। जो उसकी संगति में रहते हैं, विशेषतः मानसिक संगति में, उन पर ज्यादा असर होता है। वे उसे श्रद्धा से ग्रहण करते हैं। इसलिए सब धर्मों को अंग्रेजी में 'फेथ' कहते हैं। किसी एक को सत्य का साक्षात्कार हुआ, उसका असर जिन पर हुआ और उन्होंने उस पर श्रद्धा रखी, वे उस 'फेथ' के हुए। वैसे ही किसी को प्रेम का साक्षात्कार हुआ था, किसी को करुणा का हुआ और उन पर जिन्होंने श्रद्धा रखी, वे उस-उस फेथ के हुए। मुझे लगता है, यह बहुत ही योग्य शब्द है।

आज के प्रचलित धर्मों के लिए यही शब्द योग्य है। आज जो है, वह श्रद्धा है। जिसे हम 'धर्म' कहते हैं, वह बनना बाकी है। सब धर्मों ने कुछ-न-कुछ श्रद्धा निर्माण की है, उसके कारण लोगों के चित्त पर उसका असर भी है। परन्तु आज जो धर्म हैं, उनकी स्थापना होने के बावजूद धर्म बना नहीं। दुनिया में धर्म बनाने के प्रयत्न बार-बार किये गये, पर धर्म बना नहीं, श्रद्धा बनी है।

धर्म की स्थापना अभी हुई नहीं है, तो फिर हिन्दू, इसलाम, ईसाई आदि जो अनेक धर्म हैं, वे क्या हैं? मैं कहना चाहता हूँ कि वे धर्म नहीं, पंथ हैं। ज्ञानदेव ने कहा है, **प्रथम**

पाउली पावविला पंथ – पहले कदम पर पंथ प्राप्त करा दिया। प्रारम्भिक कदम उठाने की दृष्टि से इन सब पंथों का निर्माण हुआ है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि ऐसे अनेक पंथ हैं। जैसे छोटे बच्चे को शुरूआत में एक-एक कदम उठाना सिखाया जाता है, वैसे ही ये सब पंथ धर्म का पहला कदम सिखानेवाले हैं। ये सब छोटे-छोटे दीये जलाये हुए हैं। जब तक सूर्य नहीं उगा है, तब तक ये दिअलियाँ जलती रहेंगी। हिन्दू-दिअली, मुसलमान-दिअली, ईसाई-दिअली आदि सभी दिअलियों का काम सूर्योदय होने तक चलेगा। प्रारम्भिक कदम उठाते समय अँधेरे में टटोलना न पड़े, इसलिए ये दीये जलाये हुए हैं।

सच्चे धर्म की स्थापना

सच्चा धर्म आज तक बना नहीं, क्योंकि वह मानसिक भूमिका पर रहा। वह जब विज्ञान की भूमिका पर आयेगा, तब सच्चा धर्म बनेगा। विज्ञान के कारण धर्म का स्वरूप स्पष्ट रूप में ज्ञात होगा। आज तो ब्राह्मण को भोजन कराना धर्म नम्बर एक माना जाता है। और आग्रहपूर्वक उसके पेट में लड्डू ठूँसना धर्म नम्बर दो माना जाता है। परन्तु विज्ञान कहेगा कि धर्म नम्बर एक भी धर्म नहीं है और नम्बर दो भी धर्म नहीं है। भूखे को भोजन देना सच्चा धर्म है, भूखे को भी आग्रह करके खिलाना धर्म नहीं है। ऐसे ये बीते समय के पुराने धर्म यानी धर्म के नाम पर चलनेवाले अधर्म विज्ञानयुग में टिकनेवाले नहीं हैं। बुद्धि की कसौटी पर कसा गया, मानसिक कल्पना-कामना आदि के परे पहुँचा हुआ और दुनिया के सभी भेदभावों को – उपासनाओं के भेदभावों के साथ – निकाल देनेवाला धर्म ही टिकेगा।

भावार्थ यह है कि आज तक धर्म के नाम पर जो शिक्षा दी गयी है, वह प्रारम्भिक कदम रहा। जैसे बच्चे को गडुलना (घोड़ा-गाड़ी) देकर कदम उठाना, चलना सिखाया जाता है, वैसे आज तक जो भी शिक्षा मिली है, उतनी ही है। अभी तक दूसरे कदम की शिक्षा मिली नहीं है और धर्म-स्थापना हुई नहीं है।

आमतौर पर सत्य, अहिंसा आदि का विचार समाज में मान्य हो गया, लेकिन किसी भी स्थिति में चाहे जो भी हो, किसी भी कारण के लिए झूठ बोलना ही नहीं चाहिए, या युद्ध करना ही नहीं चाहिए, यह निष्ठा निर्माण नहीं हुई है। अभी तक ऐसा धर्म बना नहीं है, जिसके विरोध में जाने की किसी की इच्छा ही न हो। जैसे मकान बनानेवाला राइट एंगल (समकोण) में ही दीवार बनाता है, वह दीवार किसी दूसरे एंगल में खड़ी करने की हिम्मत ही नहीं करता। पहले कई प्रयोग हुए होंगे। दूसरे एंगलों में मकान बनाये गये होंगे और जब वे टिके नहीं होंगे तब सिद्धान्त बना होगा कि दीवार राइट एंगल में ही खड़ी करनी चाहिए और फिर उस पर सबकी श्रद्धा बैठ गयी होगी। लोग कहते हैं कि अमुक मौके पर सत्य ठीक है और अमुक मौके पर ठीक नहीं है। सत्य हमेशा ठीक ही है, ऐसा नहीं कहा जाता। सब क्षेत्रों में अहिंसा के लिए ऐसा निःशंक विश्वास पैदा होना अभी बाकी है। यद्यपि अहिंसा एक श्रद्धा के रूप में मान्य है, लेकिन किसी भी कारण के लिए लड़ना ही नहीं चाहिए, यह निष्ठा पैदा नहीं हुई है। युद्ध करना गलत माना गया, पर उसे सर्वथा वर्ज्य नहीं माना गया। इस तरह न सत्यनिष्ठा मान्य हो पायी है, न अहिंसानिष्ठा मान्य हुई है। संग्रह नहीं करना चाहिए, यह अपरिग्रह की श्रद्धा पैदा हुई, लेकिन जैसे चोरी को दण्डनीय अपराध माना गया है, वैसे संग्रह को नहीं माना गया। चोरी बरदाश्त नहीं की जाती, पर संग्रह को बरदाश्त किया जाता है। इसी का अर्थ है कि श्रद्धा पैदा हुई है, निष्ठा नहीं। इसीलिए मैं कहता हूँ कि अभी धर्म-संस्थापना होना बाकी है।

यह बात मैं हमेशा जोर देकर कहता हूँ कि मजहबों (पंथों, सम्प्रदायों) को जाना है। मैं यहाँ धर्म शब्द का उपयोग नहीं करता, क्योंकि धर्म पूर्ण अर्थ का शब्द है। धर्म वह चीज है जिसके पालन के लिए हमने देह धारण की है – **धारणात् धर्मः** और मजहब यानी पांथिक धर्म, जो आज चल रहे हैं। ये सारे मजहब एक जमाने में लोगों को इकट्ठा करते थे। जो समाज व्यक्ति-व्यक्ति में बिखरा था उसका एक समाज बनाने में इन मजहबों ने एक जमाने

में मदद की थी। आज जब हम सारी दुनिया को एक करने की बात कर रहे हैं, तब ये सारे पंथ तोड़नेवाले साबित हुए हैं। हिन्दू और मुस्लिम, शैव और वैष्णव – इस तरह आज टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं। इसलिए इन पंथों को आज विदा करना है और उनकी जगह अध्यात्म लाना है।

धर्म के चार चरण

धर्म के चार चरण हैं – श्रद्धा, सत्य, प्रेम और त्याग ।

पहला चरण है श्रद्धा। वह तो अब भी जनता में मौजूद है। बाकी तीन बातें तो करीब-करीब खतम हो चुकी हैं। बेचारा धर्म उसी एक पाँव के आधार पर लड़खड़ाता चल रहा है। इससे धर्मकार्य में प्रगति सम्भव नहीं। केवल श्रद्धा के आधार पर प्राणी खड़ा हो जाता है, पर उससे चला-दौड़ा नहीं जा सकता। इसलिए धर्म के जो दूसरे चरण हैं, उन्हें जागृत करना होगा। उनमें गति लानी होगी।

दूसरा चरण है सत्य। बिना सत्य के समाज का टिकना सम्भव ही नहीं। आज लोगों ने असत्य को सत्य मान लिया हैं, सम्पत्ति और भूमि की मालिकी को धर्म मान लिया है। जमीन और सम्पत्ति का मालिक व्यक्ति हो सकता है, यह असत्य है। सत्य यही है कि सम्पत्ति और भूमि भगवान् की है, उसका प्रतिनिधिस्वरूप समाज है, उसकी है। मन्दिरों में हम नैवेद्य चढ़ाते हैं। लेकिन भूखे भगवान् की हम चिन्ता न करें और जिस भगवान् को भूख न लगे उसकी चिन्ता करें, यह नाटक चलता है। हमें सत्य की स्थापना करनी है।

तीसरा चरण है प्रेम। इसे दया भी कहते हैं। हम मौके-मौके पर दया कर लेते हैं। लेकिन इसे हमने नित्य-धर्म नहीं बनाया है। घर में प्रेम है, बाजार में गये कि प्रेम खतम, एक-दूसरे को ठगना शुरू ! हर चीज या भावना के साथ पैसा जोड़ दिया गया है। विद्वान् लोग भी जितनी योग्यता रखते हैं, उतना ज्यादा लूटते हैं। हम चाहते हैं कि प्रेम का जो अनुभव

कुटुम्ब में आता है, वही सारे समाज में आये। दरिद्रनारायण को अपने घर में लें और घर का हिस्सेदार समझकर उसका हक दें। सब पर प्यार करना हमारा धर्म है।

चौथा चरण है त्याग। बिना त्याग के समाज आगे नहीं बढ़ सकता। त्याग के अभ्यास से लक्ष्मी हासिल होती है। किसान को लक्ष्मी (अनाज, फल, दूध आदि की समृद्धि) कब हासिल होती है? तब, जब वह अच्छे-से-अच्छे बीज बोता है। अगर वह बीज को बचाकर रख ले और उसका त्याग न करे तो फसल नहीं, घास उगेगी। एक दाने के बदले भगवान् बेहिसाब देता है। लेकिन एक तो बोना ही पड़ेगा। अगर कोई यह कहे कि एक बोने पर भगवान् सौ देता है तो मैं एक कम बोऊँ यानी कुछ न बोऊँ तो मुझे निन्यानबे तो देगा? क्या ऐसा सम्भव है? ऐसों से तो भगवान् भी क्या कहेगा! त्याग के द्वारा ही लक्ष्मी, ऐश्वर्य, शोभा और वैभव प्राप्त होता है। ईशावास्योपनिषद् में दो शब्दों में अद्भुत उपदेश दिया है – **त्यक्तेन भुंजीथाः** – त्याग करो तो भोग मिलेगा।

जब तक मानव-समाज में इनका आविर्भाव नहीं होगा, तब तक सत्य, अहिंसा आदि श्रद्धाएँ, श्रद्धाएँ ही रहेंगी, धर्म नहीं बनेंगी।

जैसे स्वच्छ, शुद्ध दूध में हम जरा भी कचरा सहन नहीं कर सकते, वैसे ही धर्म-कार्य में यत्किंचित् भी अधर्म आने पर उसे सहन नहीं करना चाहिए। हम यह नहीं सोच सकते कि धर्म अधर्म के आधार पर भी बढ़ सकता है। धर्म तो अपने परिशुद्ध तत्त्व सत्य पर फैलता है। हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई आदि सभी धर्मों को यह सीखना चाहिए। उन्होंने धर्म के नाम पर बहुत ही जुल्म किये हैं। नतीजा यह हुआ कि नौजवान लोग कहने लगे कि हम आपके धर्म में विश्वास नहीं रखते। हम सिर्फ सत्य, न्याय और दया चाहते हैं। इस तरह उनमें सब धर्मों के प्रति अश्रद्धा पैदा हुई है। लेकिन हम कहते हैं — ठीक है भाई, आप जिस पर

विश्वास रखते हैं, उसी को हम धर्म मानते हैं। सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं हैं – **नास्ति सत्यात् परो धर्मः**। कोई भी धर्म मानो, पर सत्य का हर धर्म में मान है।

संकुचितता न रहे

विभिन्न धर्मों के लोग द्वेष मिटा रहे हैं, प्रेम बढ़ा रहे हैं, सहयोग की भावना विकसित कर रहे हैं। ऐसा होना भी चाहिए। ऐसा करने के बदले स्वयं ही उसे तोड़ते हैं। भगवान ने जाति या धर्म पैदा नहीं किये। भगवान् ने तो मानवता पैदा की। अतः मानवता के लिए मिलकर रहना ही सच्चा धर्म है। सबको अपना हृदय एक बनाना चाहिए। सच्चा धर्म यही है कि मानवता आगे बढ़े और मानवों में टुकड़े न होने दें। हमारे मार्ग में मुख्य बाधा धर्म के नाम से संकुचित भावना का रूढ़ होना ही है। खुले आसमान के नीचे हम प्रार्थना के लिए बैठते हैं तो दिल विशाल हो जाता है। किसी मन्दिर, मसजिद या चर्च में जाते हैं तो वहाँ हमारा दिल छोटा हो जाता है, पर होना तो उलटा चाहिए। लोगों के व्यवहार में जो भेदभाव है, उसे तोड़ने के लिए धर्म है।

हिन्दुस्तान में तो एक और बात चलती है कि कोई दुखी है तो अपने पूर्व कर्मों का फल भोग रहा है। यह विचार गलत है। एक गाँव में रहते हैं तो हम सबका एक सम्मिलित कर्म है। उसका कर्म अलग, मेरा कर्म अलग, ऐसा समझना बिलकुल गलत है। जहाँ तक कर्म का सम्बन्ध है, समझना चाहिए कि हम सब एक-दूसरे की मदद करने के लिए यहाँ आये हैं।

विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरनेवाला, मानसिक कल्पना-कामनाओं से ऊपर उठा हुआ, संसार के सारे भेदभावों को मिटानेवाला, उपासना आदि में विविधता रहने पर भी एकरूपता देखनेवाला धर्म ही इस युग में टिकेगा। अब तक जो हुआ, वह धर्म की दिशा

में उठाया गया कदम भर था। अब हमें विज्ञान और आत्मज्ञान, इन दो पंखों की मदद से उड़कर धर्म-संस्थापना करनी है।

धर्म और अध्यात्म में अन्तर

अध्यात्म धर्मपंथों से भिन्न वस्तु है। धर्म प्रत्येक काल में, प्रत्येक समाज में एक ही नहीं रहता, परन्तु अध्यात्म एक ही होता है। प्रेम करना, सच बोलना, करुणाभाव रखना अध्यात्म है। ईश्वर की भक्ति करना भी अध्यात्म है। परन्तु ईश्वर की उपासना के लिए घुटने टेकना, पूर्व या पश्चिम की ओर मुँह करना धर्म का अंग है। ईश्वर के प्रति हृदय में भक्ति रखना, सदैव ईश्वर का स्मरण करना अध्यात्म है।

कुछ लोग रात में उपवास करते हैं, कुछ दिन में। जैन लोग शाम को सूर्यास्त के पूर्व भोजन कर लेते हैं। रात में भोजन बनाते हैं तो जीव-जन्तु मरते हैं, ऐसा उनका विचार है। मुसलमान रोजा रखते हैं। वे रात में खाते हैं, दिन में नहीं। यह है धर्म। परन्तु स्वयं पर नियंत्रण रखने के लिए उपवास करना अध्यात्म है। तीर्थयात्रा के लिए मक्का, अजमेर अथवा काशी-अमरनाथ जाना धर्म का अंग है। लेकिन कभी-कभी घर के बाहर सेवा के लिए निकलना अध्यात्म है। **धर्म बाह्य कर्म (उपासना) का आदेश देता है। अध्यात्म आन्तरिक शक्ति बढ़ाता है।**

मनुष्य को अध्यात्म की ओर ले जाने के लिए धर्म है। धर्म और अध्यात्म दोनों एक ही ओर जाते हैं। परन्तु सामान्य जनों को रास्ते का पता नहीं होता। इसलिए धर्म उन्हें धीरे-धीरे उधर ले जाता है। अध्यात्म एकदम प्रकाश डालता है। सत्य क्या है, यह अध्यात्म एकदम कहता है। धर्म मनुष्य को अंधा मानकर उसका हाथ पकड़कर धीरे-धीरे ले जाता है, रास्ता बताता है। मुल्ला-मौलवियों या गुरुओं के पीछे जाना धर्म सिखाता है। अध्यात्म कहता है – तुम्हारे और ईश्वर के बीच और कोई नहीं है। धर्म कहता है – ईश्वर के निकट पहुँचना है

तो बीच में कोई एजेण्ट रहना चाहिए, फिर वह कोई प्राचीन ग्रंथ हो या प्राचीन मूर्ति हो। धर्म और अध्यात्म में यही अन्तर है। अध्यात्म एक ही है, धर्म अलग-अलग हो सकते हैं – वे अच्छे भी हो सकते हैं, बुरे भी हो सकते हैं। परन्तु अध्यात्म एक ही होता है और वह अच्छा (श्रेष्ठ) ही होता है।

धर्म सीढ़ी की तरह है। मनुष्य सीढ़ी पर चढ़ा, पर बीच में ही रुक जाय तो ऊपर पहुँच नहीं सकेगा। धर्म एक मर्यादा तक मनुष्य की मदद करता है, पर बाद में तो बाधक बन जाता है। यह बात मूर्खी के ध्यान में नहीं आती और वे धर्म के नाम पर झगड़ते रहते हैं। धर्म बदलता है, अध्यात्म नहीं। यह बात उनके ध्यान में नहीं आती।

* * * * *